

ISSN 0972-1002

श्रमण ŚRAMAṆA

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXV

No.II

April-June-2014



Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

Established : 1937

ADVISORY BOARD

Dr. Shugan C. Jain

Chairman, New Delhi

Prof. Cromwell Crawford

Univ. of Hawaii

Prof. Anne Valley

Univ. of Ottawa, Canada

Prof. Peter Flugel

SOAS, London

Prof. Christopher Key Chapple

Univ. of Loyola, USA

Prof. Ramjee Singh

Bheekhampur, Bhagalpur

Prof. Sagarmal Jain

Prachya Vidyapeeth, Shajapur

Prof. K.C. Sogani

Chittaranjan Marg, Jaipur

Prof. D.N. Bhargava

Bani Park, Jaipur

Prof. Prakash C. Jain

JNU, Delh

EDITORIAL BOARD

Prof. M.N.P. Tiwari

B.H.U., Varanasi

Prof. K. K. Jain

B.H.U., Varanasi

Dr. A.P. Singh, Ballia

Prof. Gary L. Francione

New York, USA

Prof. Viney Jain, Gurgaon

Dr. S. P. Pandey

PV, Varanasi

ISSN: 0972-1002

SUBSCRIPTION

Annual Membership

Life Membership

For Institutions : Rs. 500.00, \$ 50 For Institutions : Rs. 5000.00, \$ 250

For Individuals : Rs. 150.00, \$ 30 For Individuals : Rs. 2000.00, \$ 150

Per Issue Price : Rs. 50.00, \$ 10

Membership fee & articles can be sent in favour of

Parshwanath Vidyapeeth, I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-5

PUBLISHED BY

Shri Indrabhooti Barar, for Parshwanath Vidyapeeth, I. T. I. Road,
Karaundi, Varanasi 221005, Ph. 0542-2575890

Email: pvpvaranasi@gmail.com

NOTE: The facts and views expressed in the Journal are those of authors only. (पत्रिका में प्रकाशित तथ्य और विचार लेखक के अपने हैं।)

Printed by- Mahaveer Press, Bhelupur, Varanasi

Contents

१. कालिदास के रूपकों में प्रयुक्त प्राकृत का वैशिष्ट्य १-१०
डॉ. राजनीश शुक्ल
२. जैन साधना में श्रावकधर्म ११-३२
डॉ. संगीता मिश्रा
३. भक्ति रत्नावली : एक अनुशीलन ३३-३९
अर्चना शर्मा
6. Śivācārya Dhyānāmṛtam 40-53
Acharya Dr. Shivmuniji
Trans. Dr. Ashok Kumar Singh
7. The Concept of an Ideal Leader : As Depicted
in Laghvarhannīti of Hemacandra 54-64
Dr. Rahul Kumar Singh

स्थायी स्तम्भ

- समाचार ६५-६९
- प्रकाशन-सूची ७०-९१

Our Contributors

Dr. Rajneesh Shukla

Development Officer, Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi

Dr. Sangita Mishra

Govt. P G College, Kotdwar, Uttarakhand

Archana Sharma

Research Scholar, M P Bhoj Open University, Bhopal

Acharya Dr. Shivamuniji

Head, Shwetambar Sthanakavasi Shraman Sangh

&

Dr. Ashok Kumar Singh

Associate Professor

Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

Dr. Rahul Kumar Singh

Research Associate

Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

कालिदास के रूपकों में प्रयुक्त प्राकृत का वैशिष्ट्य

डॉ० रजनीश शुक्ल

मानव में अनुकरण की प्रवृत्ति स्वभावतः पायी जाती है। अनुकरण की प्रवृत्ति का उद्देश्य आनन्द प्राप्त करना है। काव्य या कला में भी अनुकरण वृत्ति पायी जाती है। अतएव काव्य या कला आनन्द प्राप्ति का साधन है। भारतीय भाषा परिवार में वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत तथा प्राकृत परस्पर संश्लिष्ट तथा घनिष्ठ रूप से संबद्ध रही हैं। संस्कृत और प्राकृत दोनों ही मूलतः जनसमाज में प्रचलित रही हैं। इन दोनों में संवाद की एक सतत और सुदीर्घ प्रक्रिया ने शास्त्रीय विमर्श और साहित्यिक परंपराओं को संपन्न बनाया है। संस्कृत की चिंतन परंपराओं के साथ संवाद के कारण प्राकृत भाषा में दार्शनिक विमर्श पुष्ट हुआ तो प्राकृत साहित्य के साथ संवाद के तारतम्य में संस्कृत में लोक जीवन के काव्य और उसके आदर्श की प्रक्रिया उपक्रांत हुई। इसी तरह चरितलेखन, इतिहास रचना, छन्दःशास्त्र, कविसमय, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, काव्यविधाएं, कथानक रूढ़ियाँ, आख्यान, उपाख्यान, इन सबके पारस्परिक आदान-प्रदान के द्वारा संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का साहित्य संपन्न बना।

संस्कृत और प्राकृत भाषा के बीच भावात्मक अन्तर नहीं है। दोनों के विकास का स्रोत एक ही है और वह है छान्दस् । डॉ० अल्सडोर्फ, डॉ० पिशेल, डॉ० पी० डी० गुणे आदि विद्वान् भी प्राकृत भाषा के स्रोत के रूप में एक प्राचीन लोकभाषा को स्वीकार करते हैं, जिससे छान्दस् भाषा संस्कृत का भी विकास हुआ है। किसी भी भाषा के दो रूप होते हैं - कथ्य और साहित्य-निबद्ध। कथ्य भाषा सर्वदा परिवर्तनशील होती है। कोई भी भाषा जब साहित्य और व्याकरण के नियमों से बंध जाती है तो उसका विकास रुक जाता है। पुनः जनभाषा से एक नयी भाषा उभर कर आती है जो आगे साहित्य और जनमानस में सम्प्रेषण का माध्यम बनती है। प्राकृत ने संस्कृत के अनेक शब्दों, ध्वनि रूपों एवं काव्य रूपों को ग्रहण कर अपना साहित्य विकसित किया है, उसी प्रकार संस्कृत भाषा भी समय-समय पर प्राकृत से प्रभावित होती रही है। बोलचाल की भाषा अथवा कथ्य भाषा प्राकृत का

2 : श्रमण, वर्ष 65, अंक 2/अप्रैल-जून 2014

वैदिक भाषा के साथ जो सम्बन्ध था, उसी के आधार पर साहित्यिक प्राकृत भाषा का स्वरूप निर्मित हुआ है।

भारतीय आर्यभाषा को विकास की दृष्टि से प्राचीन, मध्यकालीन एवं आधुनिक आर्यभाषा इन तीन भागों में विभक्त किया गया है। आर्यभाषा के इन तीनों रूपों में से प्राकृत भाषा का सम्बन्ध मध्यकालीन आर्यभाषा से है। वस्तुतः भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से एक भाषा का युग तभी तक माना जाता है जब तक कि वह सामान्य लोकभाषा के रूप में अथवा जीवित भाषा के रूप में लोगों द्वारा प्रयुक्त होती है। मध्यकालीन आर्यभाषा को भी तीन युगों में विभक्त किया गया है-

पालि युग (५०० ई० पूर्व से १ ई०),

प्राकृत युग (१ ई० से ५०० ई० तक) तथा

अपभ्रंश युग (५०१ से १००० ई० तक)

मध्यकालीन आर्यभाषा के इन तीनों रूपों में मात्र प्राकृत का सम्बन्ध कालिदास के रूपकों से है तथा एक दो स्थलों पर अपभ्रंश की छाया भी उनके नाटकों में देखने को मिलती है। वस्तुतः प्रायः सभी संस्कृत नाटकों में मध्यकालीन प्राकृत का ही प्रयोग हुआ है। साहित्यिक प्राकृत के भी कई रूप हैं जिनमें मुख्य हैं-

महाराष्ट्री - (विदर्भ, महाराष्ट्र में प्रयुक्त होने वाली भाषा)।

शौरसेनी - (शूरसेन-मथुरा के आस-पास की बोली जाने वाली भाषा)।

मागधी - (मगध की भाषा)।

अर्धमागधी - (कौशल प्रदेश की भाषा)।

पैशाची - (सिन्धु देश की भाषा)

वस्तुतः उस समय से विभिन्न जनपदों की लोकभाषाएँ थीं। जनपदीय आधार पर लोक भाषाओं की संख्या निर्धारित करना कठिन है। अतएव जितनी लोकभाषाएँ रही होंगी उतनी ही प्राकृतें भी माननी चाहिए, किन्तु अन्य प्राकृतों को जानने का कोई साधन नहीं है। प्राकृत के विविध रूपों का दिग्दर्शन संस्कृत नाटकों में ही प्राप्त होता है।

कालिदास के रूपकों में प्रयुक्त प्राकृत का वैशिष्ट्य : 3

नमिसाधु के अनुसार प्राकृत शब्द का अर्थ है- व्याकरण आदि संस्कारों से रहित लोगों का स्वाभाविक वचन-व्यापार। उससे उत्पन्न अथवा वही वचन व्यापार प्राकृत हैं। प्राक् कृत पदों से प्राकृत शब्द बना है, जिसका अर्थ है पहले किया गया। प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति है प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम् अथवा प्रकृतीनां साधारणजनानामिदं प्राकृतम् इस अर्थ को स्वीकार करना चाहिये अर्थात् जन सामान्य की स्वाभाविक भाषा प्राकृत है।

ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी से लेकर १७वीं शताब्दी तक विविध प्राकृतों में प्राकृत कथा साहित्य, काव्य साहित्य तथा नाटक साहित्य का विकास हुआ है। इसमें बहुतायत से महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग प्राकृत कथाओं तथा प्राकृत के काव्यों में हुआ है। संस्कृत के नाटकों में पात्रानुसार शौरसेनी, मागधी, शाकारी, चाण्डाली, पैशाची आदि प्राकृतों का प्रयोग हुआ है।

प्राकृत भाषा सामान्य जन की लोक भाषा थी जो कलात्मकता से सर्वथा दूर रही है। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र^१ में भिन्न-भिन्न पात्रों के लिए भिन्न-भिन्न प्राकृत भाषाओं के बोले जाने का उल्लेख किया है, यथा- मागधी, आवन्तिका, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीकी और दाक्षिणात्या प्राकृत भाषा का प्रयोग भरत के अनुसार निम्न कार्य करने वाले व्यक्ति करते हैं। यहाँ भरत के कथन का तात्पर्य मध्यम एवं अधम प्रकृति के गुणों से युक्त व्यक्तियों से है। इन्हें ही भरत ने निम्नवर्ग का पात्र कहा है। संस्कृत नाटकों में अश्वघोष कृत शारिपुत्रप्रकरण में प्राचीन प्राकृत का प्रयोग ही मिलता है, अशोक के शिलालेखों में इन्हीं प्राकृतों का प्रयोग हुआ है। कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् , मालविकाग्निमित्रम् एवं विक्रमोर्वशीयम् नाटक के गद्य में शौरसेनी प्राकृत का तथा पद्य में महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग हुआ है। पृथ्वीधर के अनुसार शूद्रक कृत मृच्छकटिकम् में सात प्रकार की प्राकृतों का प्रयोग प्राप्त होता है। भास के सभी नाटकों में विविध प्राकृतों का प्रयोग हुआ है। उसमें मागधी प्राकृत प्रमुख रूप से प्राप्त होती है। भवभूति के नाटकों में शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी प्राकृत का प्रयोग मिलता है।

सामान्य लोकभाषा, साहित्यिक भाषा तथा कृत्रिम भाषा के निर्माण, विकास एवं अवसान की प्रकृति को दृष्टिगत करते हुए कालिदास के रूपकों में प्रयुक्त नाटकीय प्राकृत का विवेचन किया गया है। महाकवि ने अपने नाटकों में शौरसेनी, महाराष्ट्री तथा मागधी भाषा में पात्रों के मुख से संवाद कराया है। कालिदास द्वारा प्रयुक्त प्राकृतों का संक्षिप्त विवेचन इस आलेख में किया गया है।

कालिदास के नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत भाषाएँ

नाट्य-विधान के प्रसंग में भरत द्वारा वर्णित अतिभाषादि चारों प्रकार की भाषाओं में से जातिभाषा का प्रयोग चारों वर्णों के द्वारा संस्कृत एवं प्राकृत दो रूपों में किया जाता है।

संस्कृत का प्रयोग नाट्य में कुलीन, कृतात्मा पुरुषों के द्वारा किया जाता है किन्तु यह बात पूर्णतः सत्य नहीं है क्योंकि पात्रों के भाषा-प्रयोग का निर्धारण उनकी प्रकृति के अनुसार भी होता है। अतः उत्तम पात्र भी परिस्थितिवश कभी-कभी मध्यम एवं अधम पात्रों की ही भाषा का प्रयोग करते हैं। कालिदास ने अपने नाटकों में पात्रों द्वारा भाषा-प्रयोग में इसी तथ्य को ध्यान में रखकर विविध भाषाओं का अपने पात्रों द्वारा प्रयोग करवाया है।

कालिदास के तीनों रूपकों के नायक धीरोदात्त हैं जो प्रायः संस्कृत का ही प्रयोग करते हैं किन्तु विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अंक में प्रियावियोग के कारण उन्मत्त स्थिति में पुरुरवा की प्रलापोक्तियों में कई स्थानों पर अपभ्रंश का प्रयोग हुआ है। सामान्य लोग प्राकृत में बातचीत करते थे।

आचार्य भरत ने अन्तःपुर स्त्री पात्रों द्वारा किसी कार्य-विशेष पर संस्कृत भाषा का प्रयोग करने का विधान प्रस्तुत किया था किन्तु कालिदास के रूपकों में कोई भी नायिका अथवा अन्य स्त्री पात्रों ने भी संस्कृत का प्रयोग नहीं किया है।

मालविकाग्निमित्रम् के पुरुष पात्रों में राजा अग्निमित्र, नाटक का प्रबन्धकर्ता, सूत्रधार का सहचर, परिपार्श्वक, अन्तःपुराध्यक्ष, वृद्ध ब्राह्मण

कञ्चुकी, दोनों नाट्याचार्य हरदत्त एवं गणदत्त तथा स्तुति पाठक वैतालिक को छोड़कर सभी पात्र शौरसेनी प्राकृत में ही अपने गद्यात्मक संवाद करते हैं। अन्य पुरुष पात्रों में राजा का मित्र विदूषक, कुञ्ज सारसक तथा स्त्री पात्रों में मालवाधीश माधवसेन की भगिनी मालविका, अग्निमित्र की प्रधान महिषी धारिणी, अग्निमित्र की दूसरी पत्नी इरावती, मालविका की सखी बकुलावलिका, उद्यानपालिका, इरावती की परिचारिका निपुणिका, प्रतीहारी जयसेना, दूसरी दासी चेट्टी और विदर्भदेशीय दोनों शिल्पि कन्याएँ शौरसेनी भाषा का ही प्रयोग करते हैं। महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग मध्यम श्रेणी के पुरुष पात्रों एवं परिव्राजकों को छोड़कर अन्य स्त्री पात्रों के पद्यात्मक सम्भाषण के लिए किया है। मालविकाग्निमित्रम् में महाराष्ट्री में पद्यात्मक संवाद कम हैं उसमें मात्र मालविका ही महाराष्ट्री में अपने पद्यात्मक संवाद बोलती है।

विक्रमोर्वशीयम् नाटक के पुरुष पात्रों में चतुर्थ अंक में पुरुवा माणवक, विदूषक का पुत्र सर्वदमन दौवारिक खेतक, भृत्य करभक, प्रधान नगर रक्षक, राजा का साला इत्यादि पात्र अपने गद्यात्मक संवाद प्राकृत भाषा में ही बोलते हैं तथा सभी स्त्री पात्र गद्यात्मक संवाद इसी भाषा में बोलते हैं। विक्रमोर्वशीयम् नाटक में कुछ स्थलों पर प्राकृत का प्रयोग न होकर अपभ्रंश का प्रयोग कराया गया है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में मध्यम श्रेणी के पुरुष पात्रों तथा स्त्री पात्रों के पद्यात्मक संवाद महाराष्ट्री में हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में महाराष्ट्री प्राकृत में सम्भाषण करने वाले पात्रों में मुख्य हैं- शुक्न्तला की सखियाँ प्रियम्बदा और अनुसूया, दोनों दासियाँ तथा गौतमी तपस्विनी।

मध्यम श्रेणी तथा स्त्री पात्र का गद्यात्मक सम्भाषण शौरसेनी प्राकृत में है इसका मुख्य कारण सम्भवतः यह था कि महाराष्ट्री के समान स्वरों का इसमें आधिक्य न होने से वह अधिक सुखोच्चार्य थी और पात्रों के सम्भाषण के अधिक अनुकूल भी थी। मध्यम श्रेणी के पात्रों द्वारा शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग इस बात की ओर भी संकेत देता है कि यह संस्कृत भाषा के अत्यन्त निकट थी।

कालिदास संस्कृत एवं प्राकृत दोनों भाषाओं के प्रयोग में सिद्धहस्त थे। संस्कृत के समान ही इन्हें प्राकृत के प्रयोग पर भी असाधारण अधिकार है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के सातवें अंक में तापसी के कथनों में प्रयुक्त भाषा को देखने से उनकी प्राकृत भाषा सम्बन्धी योग्यता का परिचय मिलता है। उसमें ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है, जिससे दोनों बातों का उल्लेख स्पष्ट हो गया है, मोर का प्रसंग भी चल रहा है तथा उससे राजा को भी बिना बताए हुए ही बच्चे की माँ का नाम (शकुन्तला) ज्ञात हो जाता है।

मागधी प्राकृत का प्रयोग कालिदास के रूपकों के अधम श्रेणी के पात्र करते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दोनों सिपाही और धीवर की भाषा मागधी प्राकृत है। इस प्राकृत का प्रयोग अन्य दोनों रूपकों में नहीं किया गया है। मागधी जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, मगध प्रदेश की भाषा थी। संस्कृत नाटकों में इसका प्रयोग नीच पात्रों के लिए हुआ है। केवल भास के नाटकों में ही इसका प्रयोग मध्यम श्रेणी के पात्रों ने किया है। इस प्राकृत की पहचान यही है कि इसमें स के स्थान पर श का प्रयोग होता है र के स्थान पर ल का, ज के स्थान पर य का तथा अकारान्त शब्दों के प्रथमा विभक्ति एकवचन में ए लगता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक की एक विशेषता यह भी है कि धीवर एवं दोनों सिपाही की भाषा मागधी के साथ-साथ शौरसेनी प्राकृत भी है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि कालिदास के समय तक मागधी भाषा का प्रभाव पूर्णतया समाप्त नहीं हो पाया था। धीरे-धीरे बाद में इसका उपयोग समाप्त हुआ हो।

प्राकृत के वैयाकरणों ने महाराष्ट्री प्राकृत को ही सर्वोत्तम प्राकृत माना है उसी को आधार मानकर अन्य प्राकृतों के भी नियम बनाए गये हैं। मात्र अन्तर वाले स्थलों पर अन्य प्राकृतों का नामोल्लेख किया है। दण्डी ने इसीलिए काव्यादर्श में कहा है- महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्ट प्राकृत विदुः अर्थात् महाराष्ट्री प्राकृत का मुख्यतः प्रयोग महाराष्ट्र में होता था, किन्तु बाद में अन्य प्रदेशों में भी साहित्यिक स्तर पर इसका प्रयोग होने लगा। कुछ विद्वान् इसे शौरसेनी का ही विकास मानते हैं। संस्कृत नाटकों में पात्र के गद्यात्मक संवाद तथा ब्राह्मणेतर, क्षत्रियेतर तथा आभीर पात्रों के पद्यात्मक संवाद महाराष्ट्री में न होकर मागधी में हैं। इसका मुख्य कारण

कालिदास के रूपकों में प्रयुक्त प्राकृत का वैशिष्ट्य : 7

सम्भवतः यह रहा हो कि भास के समय तक स्त्री एवं निम्न पात्रों के गीतों में महाराष्ट्री के प्रयोग की संस्कृत नाटकों की परम्परा तब तक सुदृढ़ न हुई हो। यह भी हो सकता है कि भरत की दृष्टि में मागधी इतनी हेय नहीं थी, जितनी कि बाद के संस्कृत नाटककारों की दृष्टि में हो गई। क्योंकि शनैः शनैः बौद्धधर्म एवं उससे सम्बन्धित भाषा के प्रति एक हेय दृष्टि विकसित हो गई थी। कालिदास अपने मध्यम श्रेणी के पात्रों से तो महाराष्ट्री में ही पद्य रचना करवायें हैं जबकि भास वैसे ही पात्रों से मागधी बुलवाते हैं। कालिदास ने मागधी का प्रयोग निम्न श्रेणी के पात्र धीवरादि से करवाया है। अतः स्पष्ट है कि कालिदास के समय तक संस्कृत नाटकों में महाराष्ट्री गीतों की परम्परा अत्यन्त सुदृढ़ हो गई थी।

कालिदास के रूपकों में प्रयुक्त भाषाओं के विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनके समय में शिक्षित एवं उच्च श्रेणी के लोगों की भाषा संस्कृत तथा जनसाधारण की भाषा प्राकृत रही होगी। स्त्रियों का स्थान समाज में हेय था। वे अपना सम्भाषण प्राकृत में ही करती थीं। इसी प्रकार की परम्परा भास के समय भी प्रचलित थी इसीलिए कालिदास ने भी शिष्ट पात्रों से शुद्ध संस्कृत एवं शेष पात्रों से प्राकृत का प्रयोग कराया। अपने रूपकों को अत्यधिक स्वाभाविक एवं यथार्थोन्मुख बनाने के उद्देश्य से ही कालिदास ने विभिन्न नाटकीय भाषाओं के प्रयोग कराये हैं। यह भाषा वैविध्य शास्त्रानुमोदित ही है। आचार्य धनञ्जय के अनुसार नाटकों में स्त्री पात्र एवं अधम जाति के अकुलीन पात्र भी प्राकृत ही बोलते हैं तथा पिशाच और अत्यन्त अधम पात्रों की भाषा पैशाची या मागधी होती है। जो नीच पात्र जिस देश का वासी है, उसी देश की बोली के अनुसार उसकी पाठ्यभाषा रूपक में नियोजित की जानी चाहिए। वैसे कभी उत्तम पात्र की भाषा में किसी कारणवश व्यतिक्रम हो सकता है। उत्तम पात्र प्राकृत बोले अथवा अधम पात्र संस्कृत बोले। पुरुरवा प्रियावियोग से उन्मत होकर प्राकृत में ही सम्भाषण करता है।

वस्तुतः कालिदास का भाषा-प्रयोग पर असाधारण अधिकार है। इसीलिए अपने पात्रों से भाषा का प्रयोग कराते समय देश, काल एवं परिस्थितियों का हमेशा ध्यान रखते थे। जो व्यक्ति जिस कोटि का है, वह वैसी ही

भाषा का प्रयोग करता है। पुरोहित पण्डिताऊ भाषा का प्रयोग करता है, कण्व ऋषि जनोचित भाषा में ही बोलते हैं तथा स्त्रियाँ स्त्रियों के अनुकूल ही भाषा प्रयोग करती हैं।

कालिदास के रूपकों में विभिन्न पात्रों द्वारा प्रयुक्त भाषाओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने पर यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि उत्कृष्ट साहित्यिक शौरसेनी, महाराष्ट्री एवं सामान्य अथवा लोकभाषा के रूप में अपभ्रंश भाषा का प्रयोग करने में वे सिद्ध हस्त थे। कालिदास के रूपकों में प्राकृत के उपर्युक्त रूपों को छोड़कर और कोई रूप नहीं प्राप्त होता है। उसमें पालि का अभाव है जिससे यह प्रतीत होता है कि पालि युग में कालिदास के नाटकों की रचना नहीं हुई थी बल्कि उस समय हुई जिस समय कि प्राकृत लोकभाषा एवं साहित्यिक भाषा दोनों रूपों में प्रतिष्ठित थी। यही कारण है संस्कृत नाटकों में अधिक स्वाभाविकता लाने के लिए ही संस्कृत के साथ-साथ लोकभाषा के रूप में सभी पात्रों अथवा मध्यम श्रेणी के पात्रों या निम्न श्रेणी के पात्रों से जीवित भाषा प्राकृत में संवाद कराया गया है। यही परम्परा आधुनिक नाटकों में दिखाई पड़ती है। आज साहित्यिक मानक हिन्दी भाषा में लिखे हुए किसी नाटक में उच्च-स्तर के पात्रों से संस्कृत-निष्ठ हिन्दी तथा मध्यम श्रेणी के पात्रों से तद्भव प्रधान मानक हिन्दी और निम्न श्रेणी के ग्रामीण पात्रों से उच्च साहित्यिक खड़ी बोली न बुलवाकर नाटककार जनभाषा के रूप में अवधी, भोजपुरी एवं अन्य क्षेत्रीय बोलियों का प्रयोग करवाकर अधिक स्वाभाविकता अथवा सजीवता लाने का प्रयास किया जा रहा है।

सन्दर्भ :

1. पाठयं तु संस्कृतं नृणामनीचानां कृतात्मनाम् । - ना., भा., अ., - १७
2. कारणव्यपदेशेन प्राकृतं सम्प्रयोज्यत् ।
ऐश्वर्येण प्रमत्तस्य दारिद्र्येण प्लुतस्य च,
उत्तमस्यापि पठतः प्राकृतिं सम्प्रयोजयेत् ॥ - वही, अ., १७/३२-३४
3. हंद पैं पुच्छिमि आअक्खहि गअवरु लालअपहारे णासिअतरुवरु।
दूरविणिज्जणअससहरकन्ती दिट्ठ पिअ मैं संमुह जन्ती ॥ - विक्रमो., ४/४५

४. सूत्रधारः - अलमतिविस्तरेण (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) मारिश इतस्वात् । - वही, प्रा., अं., पृ. २
५. परिपार्श्वकः माव! अयमस्मि । - वही, पृ. ३
६. चित्ररथः युक्तमेतत् । अनुत्सेकः खलु वित्रमालंकारः। - वही, पृ. ३५
७. कुमारः (सस्मितम्) तात! वन्दे। वही, पृ. २१०
८. कंचुकी - अभिप्रक्षालितोयं मणिः कस्मै दीयतामिति । - वही, पं. अं., पृ. २०३
९. सूत्रधारः - अभिहितोस्मि विद्वत्परिषदा कालिदासग्रथितवस्तु आरम्यात् संगीतम् । - वही, प्र. अं., पृ. २६१
१०. विदूषकः - अइ उअट्टिदा देवी पीठमिच्छं पण्डिअकोसिइं पुरोकरिअ तत्तभोदीधारिणी । - मालवि.-(का. ग्र.) प्र. अं., पृ. २७३
११. सारसिकः - महुरिए विज्जाभरिआणं ब्रह्मणाणं णिच्चदक्खिणं मासिईं पुरोहिदस्य हत्थं पावइस्सं । - वही, पं. अं., पृ. ३३८
१२. मालविका - किं अत्तणो छन्देण मन्तेसि । - वही, तृ. अं., पृ. ३०५
१३. धारिणी - जइ वि एव्वं तह वि राअपरिग्गहो पहाणत्तणं उवहरदि । - वही, तृ. अं., पृ. २७२
१४. इरावती - अलं सेवाए। मज्झत्थदं परिगाहिअ भणाहि। - वही, तृ. ३०१
१५. बकुलावलिका - कि विआरेसि। ऊसआ व्खु इमस्स तवणीआआअस्स कुसमोग्गे देवी । - वही, तृ. अं., पृ. २९९
१६. उद्यानपालिका - उवक्खितो मए किदसक्कारविहिणो तवणीआसोअस्स वेदिआबन्धे जाव अणुट्टिदणिओअं अत्ताणं देवीए णिवेदेमि । - वही, पं. अं., पृ. ३३८
१७. जयसेवा - (प्रविष्य) जेदु जुदु भट्टा धुवसिद्धीविण्णावेदि। उदकुम्भविहाणेण सप्पमुच्छिअं किपि कप्पिइदवं। तं अण्णेसीअदुत्ति । - वही, च. अं., पृ., ३२०
१८. चेटी - (प्रविश्य) जेदु जेदु भट्टिणी ! देवी भणादि ण मे मच्छरस्स एसो कालो । भणाहि ति । - वही, च. अं., पृ. ३३१
१९. प्रथमा - (जनान्तिकम्) हला मदणिए । अपुव्वं इमं राअउलं पविसन्तीए पसीददि में हिअअं अब्भन्दगदा अप्पा ।
२०. द्वितीय - जोसिणीए कहेदि ति । - वही, पं. अं., पृ. ३४५
२१. मालविका - दुल्लहो पिओ में तस्सि भव हिअअ णिरासं अम्हो में परिप्फुरइ कि वि वामओ ।
स्सो सो चिरदिट्ठो कहं उण उवणइदब्बो ।
णाह मं मराहीणं तुईं परिगणंअ सतिण्हम । - मालवि., २/४
२२. विदूषकः अलं भवदो परिदेविदेण । अइरेण इट्ठसंपादइत्तओ अणंगो एव्व दे सहाओ भविस्सदि । - वही, द्वि. अं., पृ. ५८

10 : श्रमण, वर्ष 65, अंक 2/अप्रैल-जून 2014

२३. पेलव-गालव ! ण अणे कंहं उम्माइआ आसि । - वही, तृ. अं., पृ. ९७
२४. बालः जिंभ सिंघ, दन्ताई दे गणइस्सं । - वही, स. अं., पृ. ४०९
२५. दोवारिकः - सज्जो रथो भट्टिणो विजअप्पत्थाणं अवेक्खदि । एस उण णअरादो देवीणं आणत्तिहरओ करभाओ आअदो । - वही, द्वि. अं., पृ. १२८
२६. करभकः - जेदु जेदु भट्टा । देवी आणवेदि । आआमिणि चउत्थदिअहे पउत्त -पारणो में उववासो भविस्सदि । तहिं दीहाउणा अवस्सं संभावदिव्वात्ति । - द्वि. अं., पृ. १२९
२७. शयालः - सूअअ, कहेदु भाव्वं अणुक्कमेण । मा ण अंतरा पडिबन्धह । - वही, पं. अं., पृ. ३०७
२८. शकुन्तला - (वाचयति)
तुज्झ ण आणे हिअअं मम उण कामो दिवावि रत्तिम्मि ।
णिग्घिण तवइ बलीअं तुइ वुत्तमणोरहाई अंगाई । अभि. भा. ३/१३
२९. प्रियंवदा-ण केवलं तवोवणविरहकादरा दीसइ ।
उगालिअदभकवला मुअन्ति अस्सू विअ लदाआ ॥ - वही, ४/१२
३०. अनसूया - सहि, मा एव्वं मन्तेहि । एशा वि पिएण विणा गमेद रअणि विसाअदीहअरं । गरूअंवि विरहदुक्खं आसाबन्धो सहावेदि ॥ - वही, ४/१६
३१. प्रथमा - आतम्महरिअपंडुर जीविद सत्तं वसंतमासस्सा ।
दिट्ठो सि चूदकोरअ उदूमगल तुंम पसाएमि ॥ - वही, ६/१२
द्वितीया-अकहिदे सुरभी होदि । तुमं सि मए चूदंकर दिण्णो
पहिअज्जाजुवइलक्खो पंचाब्भहिओ सरो होहि ॥ - वही, ६/१३
३२. गौतमी - अज्ज, किपि वत्तुकाम म्हि । ण मे वअणावसराअत्थि। कहांत्ति णावेक्खिओ गुरूअणो इमाए तुए पुच्छिदो ण बन्धुअणो । एक्कक्करम चरिए भणामि किं एक्कमेक्कस्स । - वही, ५/१६
३३. पुरुष - एक्कशिश दिअषे खण्डषो लोहिअमच्छे मए कप्पिदे जाव । तश्शउदलभन्तले तद लदणभाषुलं अगुलीअअं देक्खिअ पच्छा अहके भो विक्कआअ दशअंते गहिदे भावमिष्सेहि । मालेह वा मुंचेह वा। अअं भो आआमवुत्तंते। रक्षिणो तह। गच्छ अले गडभेदअ । अभि. भा. श. अं., पृ. ३१०
३४. काव्यादर्श - १/३५
३५. पिषाचात्यन्तनीचादी पैषाच मागधं तथा ।
यच्छेपं नीचपात्रं यत्तच्छेपं तस्य माशित्म् ।
कार्यतश्चोत्तमादीना कार्यो भाशाव्यतित्रफमः ॥ - वही, २/६६

जैन साधना में श्रावकधर्म

डॉ. संगीता मिश्रा

जैन परम्परा में श्रावक शब्द का प्राकृत रूप 'सावय' है। जिसका का अर्थ बालक या शिशु है। जो अपनी साधना के क्षेत्र में प्रारम्भिक अवस्था में है, वह श्रावक है। श्रावक धर्म पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रतों के भेद से बारह प्रकार का बताया गया है—

पंचेव अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं च हुंति तिन्नैव।

सिक्खावयाइं चउरो सावगधम्मो दुवालसहा।^१

जो उदासीन गृहस्थ व्रत धारण करते हैं, उसे श्रावक के अतिरिक्त अणुव्रती, उपासक, देशविरत, सागर आदि नामों से भी संबोधित किया जाता है।

श्रावक धर्म के प्रतिपालन हेतु सामान्य रूप से अहिंसादि बारह व्रत एवं सल्लेखना की अपरिहार्यता स्वीकार की गई है। बारह व्रतों को धारण करने वाला श्रावक समय-समय पर आत्म-साधना के निमित्त ग्यारह प्रतिमाओं को क्रमशः हृदयंगम करते हैं। प्रकारान्तर से पक्ष, चर्या अथवा निष्ठा तथा साधन—ये तीन भेद द्वादशव्रतधारी श्रावक की आचार मर्यादा के कहे जा सकते हैं।

पञ्चाणुव्रत-

सर्वविरत श्रमण साधक के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रत कहे जाते हैं। श्रमण साधक का यह अनिवार्य कर्तव्य है कि वह पूर्ण रूप से कठोरता के साथ इनका पालन करें। गृहस्थ साधक के ये व्रत अणुव्रत कहे जाते हैं। व्यावहारिक जीवन में श्रमणों के सदृश कठोरता के साथ इनका परिपालन गृहस्थों के लिए असम्भव है। इसलिए गृहस्थों के द्वारा इनका पालन आंशिक रूप से किया जाता है। इस प्रकार श्रावक के प्रथम पाँच व्रत महाव्रतों की अपेक्षा लघु होने के कारण 'अणुव्रत कहे जाते हैं। वाचक उमास्वाति ने समस्त पापों के निवारणार्थ

पाँच व्रतों का उल्लेख अणुव्रत एवं महाव्रत के रूप में किया है-

हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्—देशसर्वतोऽणुमहती^१।

अर्थात् प्राणिवध (हिंसा), मृषावाद (झूठ), अदत्तग्रहण (चोरी), मैथुन (व्यभिचार) और परिग्रह- इन पाँचों से विरत होना श्रावक के पञ्चाणुव्रत हैं। एकादेश पञ्च पापों के त्याग को महाव्रत कहा जाता है। इनका स्वरूप-

१. अहिंसाणुव्रत -

अणुव्रतधारी श्रावक अहिंसा व्रत का आंशिक रूप से पालन करता है। श्रावक केवल स्थूलहिंसा का ही त्याग कर पाता है क्योंकि गृहस्थ होने के नाते उससे प्रायः सूक्ष्म हिंसा होती रहती है, इसलिए श्रावक का स्थूल हिंसा त्याग आंशिक विरति कहलाता है। आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने उल्लेख किया है कि संकल्प से मन, वचन और काय के द्वारा जो कृत, कारित और अनुमोदना से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय प्राणियों की हिंसा नहीं करता है, उसको निपुण पुरुष गणधर देवों ने स्थूलवधविरमण अर्थात् अहिंसाणुव्रती कहा है-

संकल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्वान्।

न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः।^२

हिंसा के चार भेद -

१) आरम्भी हिंसा, २) उद्योगी हिंसा, ३) विरोधी हिंसा, ४) संकल्पी हिंसा।

१) **आरम्भी हिंसा-** पानी भरना, झाड़ू लगाना, चूल्हा जलाना, गृह निर्माण आदि कार्यों में जो हिंसा होती है, उसे 'आरम्भी' हिंसा कहते हैं।

२) **उद्योगी हिंसा-** न्यायानुकूल जीवनोपयोगी आजीविका में होने वाली हिंसा 'उद्योगी हिंसा' है।

३) **विरोधी हिंसा-** व्यक्ति, धर्म, देश, समाज की रक्षा के लिये की जाने वाली हिंसा विरोधी हिंसा है। श्रावक विरोधी हिंसा मजबूरीवश करता है।

श्रावक के शान्तिपूर्ण न्यायानुकूल जीवन में जो व्यक्ति बाधा पहुँचाता है, उस पर आक्रमण करता है तथा उसके साधनों को नुकसान पहुँचाता है, तो श्रावक अपना यह कर्तव्य समझता है कि वह उसका प्रतिकार करे, इस प्रतिकार के प्रयत्न में हिंसा भी हो सकती है। इस प्रकार आत्मरक्षा, देशरक्षा तथा समाजरक्षा के लिए हिंसा करता हुआ भी श्रावक व्रती कहलाता है।

४) संकल्पी हिंसा- किसी त्रस जीव को संकल्प करके मारना, दूसरो से मरवाना या जानबूझकर मारने का विचार करना 'संकल्पी हिंसा' है।

अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार -

अहिंसाणुव्रत का सावधानीपूर्वक पालन करते हुए भी कभी-कभी अज्ञानतावश दोष लगने की संभावना रहती है। इस प्रकार के दोषों को अतिचार बताया जाता है। ज्यादातर लोग इन अतिचारों में कुछ भी दोष नहीं समझते हैं और साधारण रीति से लौकिक पद्धति समझकर अतिचार रूप कार्य करते हैं। ध्यातव्य है कि ये कार्य अहिंसाणुव्रत को दूषित करते हैं और बार-बार इन कार्यों को करने से अहिंसाणुव्रत भंग हो जाता है। अतः अहिंसाणुव्रत का पालन करने वाले श्रावक को निम्नलिखित समस्त अतिचारों से दूर रहना चाहिये—

१. **बंधन-** इच्छित स्थान पर जाते हुए किसी को रोकना या रोककर बाँधना, उन्हें पिंजड़े में डालना।
२. **वध-** पशुओं को लाठी, चाबुक आदि से विशेष ताड़ना देना वध अतिचार है।
३. **छविच्छेद-** पशुओं के नाक, कान आदि का छेदन करना, अग्नि तथा गर्म लोहे से दागना छेद अतिचार है।
४. **अति भारारोपण-** पशुओं के शरीर पर उनकी शक्ति से अधिक बोझ लादना अथवा शक्ति से अधिक उनसे कार्य लेना अति भारारोपण अतिचार है।
५. **अन्नपान निरोध-** समयानुसार पशुओं को खाना-पीना न देना, उनको भूखा-प्यासा मारना अन्नपान निरोध अतिचार है।

उपर्युक्त पाँचों अतिचारों को अहिंसाणुव्रत में दोष उत्पन्न करने वाला जान कर सर्वथा त्याग देना अनिवार्य है।

अहिंसाणुव्रत की पाँच भावनायें:-

“वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पंच।”

मोक्षशास्त्र में उल्लिखित उपर्युक्त श्लोक से यह स्पष्ट होता है कि वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्या समीति, आदान-निक्षेपण समिति और आलोकितपान भोजन ये पाँच भावनायें अहिंसाणुव्रत की हैं, उनके विषय में विशेष विवरण निम्नवत है-

१. **वचन गुप्ति-** हास्य, कलह, विवाद, अपवाद, अभिमान तथा हिंसा उत्पन्न करने वाले वचनों से विरति वचन गुप्ति है।
२. **मनोगुप्ति-** मन की प्रवृत्ति को विषय और कषायों से हटाना मनोगुप्ति है।
३. **ईर्या समिति-** त्रस तथा स्थावर जीवों को ध्यान में रखते हुए गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना चाहिये।
४. **आदान-निक्षेपण समिति-** प्रत्येक वस्तु सावधानीपूर्वक उठाना, रखना चाहिए जिससे कि स्वयं को तथा अन्य को किसी भी प्रकार की शारीरिक पीड़ा न हो।
५. **आलोकितपानभोजनसमिति-** दिन में नेत्रों से भलीभाँति-देखकर एवं शोधकर आहार करना एवं जलादि पीना आलोकितपान भोजन समिति है। उपर्युक्त पाँच भावनाओं को सदा ध्यान में रखने से अहिंसाणुव्रत और अधिक दृढ़ होता है।

२. **सत्याणुव्रत-** रत्नकरण्डश्रावकाचार में उल्लिखित है कि व्यक्ति स्थूल असत्य न तो स्वयं बोले, न दूसरों से बोलने को कहे और ऐसे वचन भी न बोले जिससे दूसरे व्यक्ति पर संकट आ जाय, ऐसे समय पर शान्त रहना ही उचित है-

स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।

यद् तद् वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमण ॥५

हिंसा के समान असत्य भी बहुत बड़ा पाप है एक झूठ के बोलने पर उसको प्रामाणिक बनाने के लिए सैकड़ों झूठे प्रमाण ढूढ़ने पड़ते हैं, जिससे व्यक्ति की मानसिकता कुण्ठित हो जाती है और उसे शारीरिक रूप से भी हानि पहुँच सकती है। असत्यवादी दूसरों को मानसिक एवं शारीरिक कष्ट पहुँचाकर स्वयं द्रव्य एवं भाव हिंसा का भागीदार होता है। एक श्रावक का यह कर्तव्य है कि वह असत्य वचन न बोले किन्तु जिस वचन से पर जीव का घात हो, ऐसे हिंसक वचन भी न बोले। जो वचन दूसरों को कटु लगे, क्रोध, उद्वेग, भय, कलह उत्पन्न करें, ऐसे कर्कश एवं निष्ठुर वचन न बोले। जो वचन दूसरों के गुप्त भेद को प्रकट करते हैं या जिससे दूसरों को हानि पहुँचने की सम्भावना हो, ऐसे वचन भी न बोले। जिस वचन से दूसरे व्यक्ति पर आपत्ति आये, ऐसे अवसर पर मौन धारण से व्यक्ति की प्रामाणिकता बनी रहती है क्योंकि वचन प्रमाण से ही जगत् में व्यक्ति प्रामाणिक होता है। वचन की अप्रामाणिकता से उसे संसार में सम्मान नहीं प्राप्त होता है अतएव सत्याणुव्रतधारियों को किसी भी बात को कहने में शब्दों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। सदा दूसरों के हितकारी, प्रमाणरूप, सन्तोष प्रदान करने वाले, धर्म को प्रकाशित करने वाले वचन का प्रयोग करना चाहिए। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में उल्लिखित है कि जो सत्यव्रत का पालन करने वाला है, वह हिंसक वचन नहीं बोलता, दूसरे की गोपनीय बात को नहीं प्रकट करता, हित-मित सन्तोषदायक और धर्म प्रकाशक वचन बोलता है-

हिंसा-वयणं ण वयदि कक्कस पि जो ण भासेदि।

णिट्ठुर-वयणं पि तहा भासदे गुञ्झ-वयणं पि।।

हिद-मिद-वयणं भासदि संतो करं तु सव्व जीवाणं।

धम्म-पयासण-वयणं अणुव्वदी हौदि सो बिदिओ।।५

भगवतीसूत्र में उल्लिखित है कि जल, चन्दन, चन्द्रमा, मोती और चन्द्रकान्तमणि भी उतने आनन्ददायक नहीं हैं, जितने अर्थ सहित

हितकर और मधुर वचन है-

**जल चंदण ससिमुत्ताचंदमणी तह णरस्स णिव्वाणं।
ण करंति कुणइ जह अत्थज्जुयं हिदमधुरमिदवयणं।।***

सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार और उनका स्वरूप-

आचार्य श्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है-

मिथ्योपदेशरहभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहार साकारमन्त्रभेदाः।।*

अर्थात् मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेख क्रिया, न्यासापहार और साकार मन्त्र भेद - ये पाँच अतिचार सत्याणुव्रत के हैं-

१. **मिथ्योपदेश-** ऐसा शास्त्र-विरुद्ध उपदेश नहीं देना चाहिए, जिससे हिंसक भावना उत्पन्न हो तथा मिथ्यात्व की वृद्धि हो।
२. **रहोभ्याख्यान:** - किसी भी गुप्त बात को प्रकट करना रहोभ्याख्यान है, अतः सत्याणुव्रती को किसी की भी गुप्त बात को नहीं प्रकट करना चाहिए, अन्यथा सत्याणुव्रत में रहोभ्याख्यान नाम का अतिचार आ जाता है।
३. **कूटलेख क्रिया-** झूठी बातें लिखना, झूठी गवाही देना, अन्य के नाम से उसकी आज्ञा बिना लिए कोई तथ्य लिखना आदि कूटलेख क्रियाएँ हैं।
४. **न्यासापहार-** किसी की धरोहर यदि किसी व्यक्ति के पास रखी है तो धरोहर रखने वाले व्यक्ति भूल से उसकी धरोहर कम देता है या उसका स्वामी उसकी धरोहर कम मांगता है तो उसे उसकी मांग के अनुसार ही सामग्री दे देने और शेष वस्तु अपने पास रख लेने से सत्याणुव्रत में न्यासापहार नाम का अतिचार आ जाता है।
५. **साकार मन्त्रभेद-** किसी व्यक्ति की चेष्टा द्वारा उसके अभिप्राय को जानकर अन्य व्यक्तियों से प्रकट करना या किसी व्यक्ति के शरीर या शरीर के किसी अंग की आकृति देखकर उसके गुप्त

अभिप्राय को जानकर दूसरो से प्रकट कर देना साकार-मन्त्र भेद अतिचार है।

सत्याणुव्रत की पाँच भावनायें तथा उनका स्वरूप-

आचार्य श्री उमास्वाति के अनुसार क्रोध, लोभ, भय, हास्य एवं सूत्र विरुद्ध बोलने का त्याग करना ही सत्याणुव्रत की पाँच भावनायें हैं-

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषाणं च पञ्च।^१

उपर्युक्त पाँच भावनाओं को सर्वदा याद रखने से व्यक्ति असत्य भाषण का त्याग कर देता है, इसप्रकार सत्याणुव्रत परिपक्व तथा निर्मल रहता है, इन भावनाओं का वर्णन संक्षेप में निम्नलिखित है-

१. **क्रोधत्याग-** व्यक्ति को क्रोध नहीं करना चाहिए। यदि किसी बाह्य प्रबल कारण से क्रोध उत्पन्न हो जाए तो अपने शुद्ध विचारों से विवेक द्वारा उसे शान्त कर लेना चाहिए।
२. **लोभ त्याग-** ऐसे लोभ को छोड़ देना चाहिए, जिससे असत्य में प्रवृत्ति होती हो।
३. **भय त्याग-** धर्म विरोध के भय से, लोक विरोध के भय से तथा राज विरोध के भय से भी असत्य भाषण नहीं करना चाहिए।
४. **हास्य त्याग-** ऐसा परिहास भूलकर भी नहीं करना चाहिए, जिससे किसी जीव को पीड़ा पहुँचे।
५. **सूत्र विरुद्ध वचन त्याग-** जिन-सूत्र से विरुद्ध वचन नहीं बोलना चाहिए।

३. अचौर्याणुव्रत (अस्तेय अणुव्रत) -

वह श्रावक अचौर्याणुव्रत का धारक है, जिसमें बिना दिये हुए दूसरे के द्रव्य को लेने का भाव नहीं होता है, बहुमूल्य वस्तु को अल्पमूल्य में लेने का भाव नहीं होता है, कपट से, लोभ से, अभिमान से तथा क्रोध से

परद्रव्य को लेने की कामना नहीं होती है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में तृतीय अणुव्रत अस्तेय का पालन करने वाले के बारे में बताया गया है कि जो बहुमूल्य वस्तु को अल्प मूल्य में नहीं खरीदता, दूसरे की भूली हुयी वस्तु को नहीं उठाता, अल्पलाभ में ही सन्तुष्ट रहता है तथा कपट, लोभ, क्रोध तथा मान से परद्रव्य का हरण नहीं करता वह निर्मलमति, दृढ़निश्चयी तृतीय अणुव्रत अस्तेय का पालन करने वाला है-

जो बहुमुल्लं वत्युं अप्य य मुल्लेण णव गिण्हेदि।

वीसरियं पिवि गिण्हदि लाहे थोवे पि तुसेदि।।

जो दव्वं ण हरदि माया-लोहेण कोह-माणेण।

दिढचित्तो सुद्धमई अणुव्वई सो हवे तिदिओ।।^{१०}

आचार्य समन्तभद्र के अनुसार जो दूसरे के रखे हुए, गिरे हुए, भूले हुए और धरोहर रखे हुए द्रव्य का न तो हरण करे और न ही दूसरे को दे, उस स्थूल चोरी से विरत होना ही अचौर्य अणुव्रत है-

निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसष्टं।

न हरति यन्न च दत्ते, तदकृशचौर्य्यादुपारणम्।।^{११}

चोरी के सर्वथा त्याग से अचौर्य महाव्रत और एक देश (स्थूल) त्याग से अचौर्य अणुव्रत होता है। अचौर्याणुव्रतधारीं श्रावक स्थूल चोरी का त्याग करता है।

अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार तथा उनका स्वरूप -

स्तेनप्रयोग, तदाहतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिक-मानोन्मान तथा प्रतिरूपक व्यवहार- ये पाँच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं।^{१२}

१. **स्तेनप्रयोग-** चोरी करना या अन्य को चोरी की विधि बताना स्तेन प्रयोग अतिचार है।

२. **तदाहतादान-** चोरी किया हुआ पदार्थ ग्रहण करना, कम मूल्य में खरीदना या अन्य को दिलवाना तदाहतादान अतिचार है।

३. **विरुद्ध राज्यातिक्रम-** राज्य के नियमों का उल्लंघन करना, राजाज्ञा के विरुद्ध कार्य करना तथा राज्य के नियमों का उल्लंघन करने वाले को सहायता देना विरुद्धराज्यातिक्रम नामक अचौर्याणुव्रत का अतिचार है।
४. **प्रतिरूपक व्यवहार-** बहुमूल्य वस्तु में कम मूल्य की वस्तु मिलाकर बहुमूल्य के भाव से बेचना या ऐसी बातों की शिक्षा अन्य को देना प्रतिरूपक व्यवहार नामक अतिचार है।

उपर्युक्त पाँच अतिचार अचौर्याणुव्रत में दोष उत्पन्न करते हैं। अतएव अचौर्याणुव्रतधारी श्रावक को इन दोषों से दूर रहना चाहिये।

अचौर्याणुव्रत की पांच भावना-

“शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पंच”।^{१३}

तत्त्वार्थसूत्र के उपर्युक्त श्लोक से अचौर्याणुव्रत की पंच-भावना-शून्यागारवास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्यशुद्धि तथा सर्वधर्माविसंवाद का ज्ञान होता है-

१. **शून्यागार-** दुष्ट, व्यसनी, ईर्ष्या रखने वाले, कलह करने वाले पुरुष रहित स्थान में निवास करना शून्यागार भावना है।
२. **विमोचितावास-** जिस मकान में दूसरे का झगड़ा न हो, वहाँ निराकुलता- पूर्वक रहना विमोचितावास है।
३. **परोपरोधाकरण-** अन्य के स्थान पर बलपूर्वक प्रवेश न करना, तथा ठहरे हुए व्यक्ति को बलपूर्वक हटाने का प्रयास न करना परोपरोधाकरण भावना है।
४. **भैक्ष्यशुद्धि-** अपने कर्मानुसार प्राप्त हुए भोजन को लालसा रहित, सन्तोष सहित ग्रहण करना तथा अभक्ष्य भोजन का त्याग करना, भैक्ष्य-शुद्धि है।
५. **सर्वधर्माविसंवाद-** सहधर्मी पुरुषों से कलह-विसंवाद न करना सर्वधर्माविसंवाद भावना है। श्रावक को अचौर्य (अस्तेय) अणुव्रत

20 : श्रमण, वर्ष 65, अंक 2/अप्रैल-जून 2014

में दृढ़ रहने के लिए उपर्युक्त भावनाओं को सदा स्मरण रखना चाहिये।

४- ब्रह्मचर्याणुव्रत -

आचार्य समंतभद्र का कथन है -

**न तु परदारान् गच्छति, न परान् गमयति च पापभीतेर्यत।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसन्तोषानामपि।^{१४}**

अर्थात् जो पाप के भय से परस्त्री के साथ काम-भोग न स्वयं करते हैं और न अन्य से करवाते हैं, अपनी स्त्री में ही सन्तोष रखते हैं, वे ब्रह्मचर्याणुव्रतधारी हैं।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के पांच अतिचार-

आचार्य उमास्वामी का कथन है-

‘परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीता

परिगृहीतागमनानंगक्रीडा कामतीव्राभिनवेशः^{१५}

अर्थात् परविवाहकरण, परिगृहीतेत्वरिकागमन, अपरिगृहीतेत्वरिकागमन, अनंगक्रीडा तथा कामतीव्राभिनवेश-ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं-

१. **परविवाहकरण-** अपने पुत्र और पुत्रियों के अतिरिक्त अन्य जनों के पुत्र-पुत्रियों का विवाह कराना परविवाहकरण नामक ब्रह्मचर्याणुव्रत का प्रथम अतिचार है।
२. **परिगृहीतेत्वरिकागमन-** व्यभिचारिणी स्त्री, जिसका स्वामी हो, उसके घर आना-जाना या उससे बोलना, उठना-बैठना, लेन-देन आदि का व्यवहार रखना परिगृहीतेत्वरिकागमन अतिचार है।
३. **अपरिगृहीतेत्वरिकागमन-** स्वामी रहित व्यभिचारिणी स्त्री के यहाँ आना-जाना या उससे बोलना, उसके साथ उठना-

बैठना, लेन-देन का व्यवहार करना अपरिगृहीतेत्वरिकागमन अतिचार है।

४. **अनंगक्रीड़ा-** काम सेवन के अंगों को छोड़कर अन्य अंगों से काम-सेवन की क्रीड़ा करना या अन्य क्रियाओं द्वारा काम भावना की शान्ति करना अनंगक्रीड़ा अतिचार है।
५. **कामतीव्राभिनवेश-** स्वस्त्री में भी कामसेवा की अधिकता रखना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का बिना विचार किये काम सेवन करना कामतीव्राभिनवेश अतिचार है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत की पाँच भावनायें तथा उनका स्वरूप-

आचार्य उमास्वामी का कथन है कि स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग, स्त्रीमनोहरांगनिरीक्षणत्याग, पूर्वरतानुस्मरणत्याग, कामोदीपनरसत्याग एवं स्वशरीर-संस्कार त्याग-ये ब्रह्मचर्याणुव्रत की पाँच भावनायें हैं-

'स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षण पूर्वरतानुस्मरण-

वृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्काररत्यागाः पञ्च।^{१६}

१. **स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग-** अन्य जनों की स्त्रियों में आसक्ति उत्पन्न करने वाली कथा, वार्ता, गीत आदि सुनने, पढ़ने और कहने का त्याग करना स्त्रीरागकथा श्रवण त्याग भावना है।
२. **स्त्रीमनोहरांगनिरीक्षणत्याग-** अन्यजनों की स्त्रियों के मनोहर अंगों को राग सहित न देखना स्त्रीमनोहरांगत्याग भावना है।
३. **कामोदीपनरसत्याग-** काम भावना उत्पन्न करने वाले पौष्टिक भोजन का त्याग कामोदीपनरसत्याग भावना है।
४. **स्वशरीरसंस्कारत्याग-** कामीजनों के समान अपने शरीर का श्रृंगार न करना, साधारण वस्त्रादि धारण करना स्वशरीर संस्कार त्याग भावना है। उपर्युक्त भावनाओं का स्मरण रखने से ब्रह्मचर्याणुव्रत और अधिक पुष्ट होता है।

५. **परिग्रह – परिमाण अणुव्रत-** जैन साहित्य में व्यक्ति की इच्छाओं को आकाश के सदृश असीम बताया गया है- इच्छाहु आगासमा अणंतिया।^{१७}

समन्तभद्र के अनुसार खेत, मकान, चाँदी, सोना, धन-धान्य, दास-दासी, कुप्य, कपास आदि तथा भाँड-पात्र आदि इन दस प्रकार के परिग्रहों का परिमाण करके उससे अधिक इच्छा न करना परिग्रह परिमाण अणुव्रत है -

‘धनधान्यादिग्रन्थं, परिमाय ततोऽधिकेषु निरपुहता।’

परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाण ।।^{१८}

जैन दर्शन के अनुसार किसी भी वस्तु के अत्यधिक संग्रह से व्यक्ति की आत्मा का दमन होता है तथा तृष्णाओं की वृद्धि होती है। निस्सन्देह तृष्णा पाप की उत्पादक, आकुलता की जड़ तथा दुःख देने वाली है। इसलिए तृष्णा कम करने तथा इससे मुक्त होने के लिए परिग्रह परिमाण करने से बढ़कर अन्य कोई और उपाय नहीं है।

परिग्रहपरिमाणाणुव्रत के अतिचार तथा उनका स्वरूप -

‘क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः।^{१९}

उपर्युक्त श्लोक से यह स्पष्ट होता है कि क्षेत्र-वास्तु, हिरण्यसुवर्ण, धन-धान्य, दासी-दास तथा कुप्य इन पाँच वस्तुओं के प्रमाण एवं परिणाम का जब अतिक्रमण होता है, तभी परिग्रह परिमाण के पाँच अतिचार बनते हैं-

- १- **क्षेत्रवास्तुपरिमाणातिक्रम** - क्षेत्र वह है, जहाँ धान्यादि की उत्पत्ति होती है, जिस गृह में निवास किया जाता है, उसे वास्तु कहते हैं। इनका परिमाण करके अतिक्रमण करना क्षेत्रवास्तुपरिमाणातिक्रम नामक परिग्रह परिमाण अणुव्रत का अतिचार है।
- २- **हिरण्यसुवर्णपरिमाणातिक्रम** - चाँदी के आभूषण, हिरण्य एवं सोने के आभूषण सुवर्ण कहे जाते हैं। इनके परिमाण का अतिक्रमण करना ही हिरण्यसुवर्णपरिमाणातिक्रम अतिचार है।

- ३- **धनधान्यपरिमाणातिक्रम** - गाय, बैल, भैंस, घोड़ा आदि को धन कहा जाता है। गेहूँ, ज्वार, मूँग, जौ आदि को धान्य कहा जाता है इनका परिमाण करके अतिक्रमण करना ही धनधान्य परिमाणातिक्रम अतिचार है।
- ४- **दासीदास परिमाणातिक्रम** - अपनी सेवा के लिए रखे गये सेवक आदि के परिमाण का अतिक्रमण करना ही दासीदास-परिमाणातिक्रम नामक परिग्रहपरिमाण अणुव्रत का चौथा अतिचार है।
- ५- **कुप्यपरिमाणातिक्रम** - स्वर्ण तथा चाँदी को छोड़कर शेष सभी वस्तुएं कुप्य शब्द के अन्तर्गत आ जाती हैं। इन सभी वस्तुओं का परिमाण करके अतिक्रमण करना कुप्यपरिमाणातिक्रम अतिचार है।

उपर्युक्त समस्त अतिचार परिग्रह परिमाण अणुव्रत में दोष उत्पन्न करते हैं। श्रावक का यह कर्तव्य है कि वह इनका त्याग करके इस व्रत की रक्षा करें।

परिग्रहपरिमाण अणुव्रत की पाँच भावनायें **“मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रिय विषयरागद्वेष वर्जनानि पंच”^{१०}**

मनोज्ञ तथा अमनोज्ञ पाँचों इन्द्रियों के विषय में राग-द्वेष का परित्याग ही परिग्रहपरिमाण अणुव्रत की पाँच भावनायें हैं। कर्मयोग से मिले हुए मनोज्ञ विषयों के प्रति अतिराग व आसक्ति नहीं करनी चाहिए तथा अमनोज्ञ विषयों के प्रति द्वेष व घृणा नहीं करनी चाहिए।

इन भावनाओं को सदा स्मरण रखने से परिग्रह-परिमाण अणुव्रत में दोष नहीं लगने पाता है तथा व्रत में दृढ़ता रहती है।

पञ्चाणुव्रत धारण करने से लाभ - पाँच अणुव्रत श्रावक के प्रमुख गुण हैं, जिस प्रकार सर्वविरत श्रमण के लिए पाँच महाव्रत प्राणभूत हैं, उसी प्रकार श्रावक के लिए पाँच अणुव्रत जीवनरूप हैं। जैसे पाँच महाव्रतों के अभाव में श्रामण्य निर्जीव होता है वैसे ही पाँच अणुव्रतों के अभाव में श्रावक धर्म निष्प्राण होता है।^{११}

गुणव्रत -

जैन आचारशास्त्र में पञ्चाणुव्रतों की रक्षा तथा विकास के लिए तीन गुणव्रत बताये गये हैं -

१. दिग्ब्रत
२. अनर्थदण्ड व्रत
३. भोगोपभोगपरिमाण व्रत

१. दिग्ब्रत -

गृहस्थ को अपने व्यवसाय के सम्बन्ध में देश-देशान्तर जाने की आवश्यकता भी पड़ती है। अतः उसके लिए यह निर्देश है कि वह अपना आयात-निर्यात एक सीमा के अन्दर निश्चित कर लें और उसी सीमा के अन्दर अपना व्यवसाय करें। अपनी तृष्णावृत्ति पर नियंत्रण कर व्यवसाय आदि के लिए दिशाओं की सीमा निश्चित करना और उस सीमा का उल्लंघन न करना ही दिग्ब्रत है। धर्मसंग्रहश्रावकाचार में उल्लिखित है कि दसों दिशाओं का परिणाम करके जन्मपर्यन्त इससे बाहर नहीं जाऊँगी, ऐसी प्रतिज्ञारूप मर्यादा में रहना दिग्ब्रत है-

दशदिक्ष्वपि संख्यानं, कृत्वा यास्यामि नो बहिः।

तिशङ्गेदित्यामृतेयत्र तत्स्यादिग्वारतिव्रतम्।।^{२३}

दिग्ब्रत के पाँच अतिचार -

जैन आचार-शास्त्र में उल्लिखित है कि निश्चित की गई सीमा को अज्ञानतावश या प्रमादवश भूल जाना, ऊर्ध्वभाग (पर्वतादि के ऊपर चढ़ना) की मर्यादा का उल्लंघन करना, अधोभाग (कूप, वापिका, खान आदि में नीचे उतरना) की मर्यादा का उल्लंघन करना, तिर्यक् भाग (ऊँची व नीची दिशाओं के अतिरिक्त पूर्वादि समस्त दिशाओं में जाना) की मर्यादा का उल्लंघन करना तथा क्षेत्रवृद्धि-ये दिग्ब्रत के पाँच अतिचार हैं-

सीमाविस्मृतिरूर्ध्वाद्यस्तिर्यग्भागव्यतिक्रमाः।

अज्ञानतः प्रमादाद्वा, क्षेत्रवृद्धिश्च तन्मलाः।।^{२४}

२. अनर्थदण्डव्रत -

समस्त पापपूर्ण निरर्थक प्रवृत्तियों से निवृत्त होना अनर्थदण्डव्रत है। समन्तभद्र ने पापोपदेश, हिंसा, दान, अपध्यान, दुःश्रुति एवम् प्रमादचर्या-ये पाँच अनर्थदण्डव्रत बताये हैं-

पापोपदेशहिंसा दानापध्यान दुःश्रुती पञ्चः।

प्राहुः प्रमादचर्यामिनर्थदण्डानदण्डधराः।।^{२५}

अनर्थदण्डव्रत के पाँच अतिचार-

आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने कंदर्प (राग-भाव से युक्त होकर अश्लील वचन कहना), कौत्कुच्य (अश्लील वचन सहित शरीर के अंगों के द्वारा कुत्सित चेष्टा करना), मौखर्य (धृष्टतापूर्वक असत्य वचन बोलना), अति प्रसाधन (आवश्यकता से अधिक भोगोपभोग की वस्तुओं का संग्रह करना), असमीक्ष्याधिकरण (बिना विचारे कार्य करना)- ये पाँच अतिचार अनर्थदण्डव्रत के बताये हैं:-

“कंदर्पकौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पञ्च।

असमीक्ष्याधिकरणं व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरतेः।।^{२६}

३. भोगोपभोगपरिमाण व्रत -

जो वस्तु एक बार भोगकर छोड़ दी जाती है, उसे भोग और जिसे भोगकर पुनः भोगा जाता है, वह उपभोग है। भोग्य, उपभोग्य पदार्थ का नियम रूप से परिणाम करना और शेष का त्याग करना भोगोपभोगपरिमाण व्रत कहा जाता है।

भोगोपभोगपरिमाण व्रत के अतिचार -

विषय रूपी विष का सेवन कर उनकी उपेक्षा न करना, भोगे गये विषयों को बार-बार स्मरण करना, भोगों को भोगने के बाद पुनः भोगने की इच्छा करना, भविष्य में भी भोगों को भोगने की अति इच्छा रखना तथा तात्कालिक भोग वस्तुओं का सेवन करते हुए अति आसक्ति रखना भोगोपभोग परिमाणव्रत के पाँच अतिचार हैं।

शिक्षाव्रत -

शिक्षाव्रत का सम्बन्ध व्यक्ति के सीखने व अभ्यास करने से है। जिस आचरण से उच्च चारित्र धारण करने की शिक्षा मिलती है, उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। चार प्रकार के शिक्षाव्रत बताये हैं^{२७}-

१. देशावकाशिक, २. सामायिक, ३. प्रोषधोपवास, ४. वैयावृत्य

१. देशावकाशिक-

दिक् व्रत में घंटा, दिन, मास आदि समय तथा क्षेत्र का संकोच करके गली, मुहल्ला, नगर, मकान आदि में आने-जाने का नियम बना लेना देशावकाशिक व्रत है।

देशावकाशिक शिक्षा व्रत के पाँच अतिचार -

‘सागारधर्मावृत्त’ में उल्लिखित है कि निश्चित की गई सीमा के बाहर डेला आदि फेंकना, शब्द सुनाना, अपना शरीर दिखाना, किसी अन्य को भेजना, सीमा के बाहर से कुछ मँगाना- इन पाँच अतिचारों को त्याग देना चाहिए-

पुद्गलक्षेपणं शब्दश्रावणं स्वाङ्गदर्शनम्।

प्रैषं सीमाबहिर्देशे ततश्चानयनं त्यजेत्^{२८}।।

२. सामायिक-

संसार के समस्त जीवों के प्रति समभाव रखना ही सामायिक शिक्षाव्रत है। सामायिक के लिए श्रावक को तन-मन दोनों से ही स्वस्थ होना आवश्यक है। मन, वचन तथा कर्म की पवित्रता से समता का भाव उत्पन्न होता है। गृहस्थ को इसी समता भाव के अभ्यास के लिए दिन में किसी भी समय शान्त वातावरण में धर्म-चिन्तन करना चाहिए।

अस्तु शुद्ध एकान्त स्थान में समस्त इष्ट पदार्थों से राग-भाव और अनिष्ट पदार्थों से द्वेषभाव छोड़ कर समता भाव धारण करना, आत्मचिन्तन करना, वैराग्य भाव धारण करना, परमेष्ठियों का चिन्तन करना सामायिक शिक्षाव्रत है।

सामायिक शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार- मन को चंचल करना, वचन को अशुभ या चंचल करना, काय को अस्थिर रखना, सामायिक में अनादर करना, प्रमादवश पाठ को भूल जाना-ये सामायिक व्रत के पाँच अतिचार हैं-

वाक्कायमानसानां, दुःप्रणिधानान्यनादरास्मरणे।

सामायिकस्यातिगमा, व्यज्यन्ते पञ्चभावेन^{२९}।।

३. प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत -

सामायिक के संस्कारों को दृढ़ बनाने के लिये, परीषह आदि उपसर्गों पर विजय प्राप्त करने के लिए श्रावक प्रत्येक महीने के चारों पर्वदिवसों (कृष्णपक्ष की अष्टमी तथा चतुर्दशी, शुक्ल पक्ष की अष्टमी तथा चतुर्दशी) में स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु एवं कर्ण इन पाँचों इन्द्रियों को अपने विषय से रोककर खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय- इन चारों प्रकार के आहार का शास्त्रानुसार त्याग करता है, उसके इस त्याग को प्रोषधोपवास कहते हैं।^{३०}

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार- उपवास के दिन बिना देखे, बिना शोधे वस्तुओं को रखना, उठाना, बिना देखे, बिना शोधे स्थान पर मलमूत्रादि त्याग करना, बिना शोधे बिस्तर बिछाना, अरुचि के साथ उपवास करना तथा प्रोषधोपवास की क्रियाओं को भूल जाना- ये प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार हैं।

३. वैयावृत्य (अतिथिसंविभाग) शिक्षाव्रत -

राग-द्वेष एवं विषयों से विरक्त, नीरस आहार करने वाले, चारों पुरुषार्थों के ज्ञाता, ऋद्धि से गर्व रहित मुनि आदि साधु-जनों को निर्दोष आहार, औषधि, उपकरण, आवास ऐसे चार प्रकार के दान देना वैयावृत्य शिक्षाव्रत है।

वैयावृत्य शिक्षाव्रत के अतिचार- मुनि आदि को दिये जाने वाले अचित्त भोजन को किसी सचित्त वस्तु जैसे हरे पत्ते आदि पर रख देना, अचित्त भोजन को सचित्त पदार्थ जैसे हरे पत्ते आदि से ढँक देना, मुनि आदि के लिए आहार तैयार करके आहार कराने के लिए किसी अन्य को कहना,

ईर्ष्याभाव से दान देना अर्थात् अन्य दातारों से ईर्ष्या रखना, नवधा भक्ति (पड़गाहन, उच्च स्थान, पाद-प्रक्षालन, पूजन, नमस्कार, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, भोजनशुद्धि आदि) भूल जाना- ये वैयावृत्य शिक्षा व्रत के पाँच अतिचार हैं।

सल्लेखना-

जिस समय अनिवार्य उपसर्ग आ जाये, दुर्भिक्ष पड़े, कोई असाध्य रोग हो जावे या किसी प्रकार के उपसर्ग, परीषह अथवा अन्य संकट का सामना करना पड़े तथा श्रावक को यह लगे कि अब प्राणों का बचना कठिन है तथा उसका शरीर अब किसी भी काम का नहीं रह गया है, वह इस धरती पर भार-सदृश है, तो ऐसे समय पर शान्ति धारण कर धर्म की प्रभावना के भी निमित्त इस नाशवान शरीर को शान्तिपूर्वक त्याग देना ही सल्लेखना है।

जैन शास्त्रों में सल्लेखना को आत्मघात नहीं बताया गया है। आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरि के अनुसार हिंसा के कारण कषाय-भावों को जहाँ कम किया जाता है, वहीं सल्लेखना अहिंसा धर्म की वर्द्धक है। इसमें आत्मघात का दोष नहीं है। जहाँ कषाय-सहित व्यक्ति की मृत्यु हो, वहाँ आत्मघात का दोष लगता है। यह काया धर्मसाधन की सहायक है, अतएव इसकी रक्षा करना तभी तक उचित है, जब तक आत्मिक धर्म सधे और जब इसकी रक्षा करने से अपना धर्म डूबने लगे, तब इसको त्याग देना ही उचित है-

नीयन्तेऽषकशाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम् ।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसयप्रसिद्धयर्थम्^{२१} ॥

विकृत चित्तवृत्ति का परिणाम आत्मघात है, जबकि सल्लेखना निर्विकार चित्तवृत्ति से होती है। आत्मघात चित्त की अप्रसन्नता एवं अशान्ति को द्योतित करती है, सल्लेखना चित्त की प्रसन्नता एवं शान्ति को प्रकट करती है।

इस प्रकार आत्मिक धर्म की रक्षा के लिए शरीर का त्याग 'सल्लेखना' है।

सल्लेखनाव्रत के पाँच अतिचार -

सल्लेखना लेने के बाद जीने की इच्छा करना, कष्टों से घबड़ाकर शीघ्र ही मरने की इच्छा करना, भूख आदि कष्टों से भयभीत होना, मित्रों को याद करना, भविष्यकाल में भोगों की इच्छा करना- ये पाँच अतिचार सल्लेखना व्रत के हैं।

श्रावक की प्रतिमायें-

प्रतिमा का अर्थ है 'प्रतिज्ञाविशेष' अथवा 'व्रत ग्यारह विशेषा' डॉ० मोहनलाल मेहता के शब्दों में "प्रतिमास्थित श्रावक श्रमणवत् व्रत विशेषों की आराधना करता है। कोशकार प्रतिमामूर्ति, प्रतिकृति, प्रतिबिम्ब, छाया, प्रतिच्छाया आदि अर्थ देते हैं। चूंकि प्रतिमाओं की आराधना करने वाले श्रावक का जीवन श्रमण के सदृश होता है, अर्थात् उसका जीवन एक प्रकार से श्रमण जीवन की ही प्रतिकृति होता है, अतः उसके व्रत-विशेषों को प्रतिमायें कहा जाता है।^{३२}

इस प्रकार बारह व्रतधारी श्रावक उपर्युक्त समय पर आत्मसाधना के लिए निम्नलिखित ग्यारह प्रतिमाओं को क्रमशः धारण करता है।

प्रथम प्रतिमा 'सम्यक् दृष्टि' (दर्शन प्रतिमा) है। इस प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक शुद्ध दृष्टि रखते हुए भी किसी भी व्रत का विधिवत पालन नहीं कर पाता है।

द्वितीय प्रतिमा का नाम 'व्रत प्रतिमा' है। इस प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक पञ्चाणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत का नियमानुसार पालन करने का अभ्यास करता है।

तृतीय 'सामायिक प्रतिमा' है। इसमें श्रावक क्रोधादि कषायों अर्थात् सांसारिक वासनाओं पर विजय प्राप्त कर, आर्त्त-रौद्र भाव का त्याग कर सर्वजीवों के प्रति समता भाव रखता है।

चतुर्थ प्रतिमा 'प्रोषधोपवास' में वह शास्त्रानुसार उपवास विधि का पूर्णतः पालन करने लगता है।

30 : श्रमण, वर्ष 65, अंक 2/अप्रैल-जून 2014

पाँचवीं प्रतिमा का नाम 'सचित्त त्याग' है, इसमें श्रावक अपनी हिंसा-वृत्ति को नियंत्रित करता है तथा अपने भोजन में कन्द-मूल हरे शाक, बिना उबले जल आदि का त्याग कर देता है।

छठीं 'रात्रिभोजनत्याग प्रतिमा' है। इसमें श्रमणोपसक (श्रावक) रात्रि में अन्न, खाद्य, लेह्य, पेय इन चार प्रकार के आहार का त्याग कर देता है।

सातवीं प्रतिमा 'ब्रह्मचर्य प्रतिमा' में श्रावक अपनी स्त्री से भी कामक्रीड़ा त्याग देता है और पूर्ण ब्रह्मचारी बन जाता है।

आठवीं प्रतिमा 'आरम्भ त्याग' की है। विकास की इस कक्षा में उपासक सांसारिक आसक्ति का त्याग कर अपने गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित कार्य का भार अपने पुत्रादि पर छोड़ देता है।

नौवीं 'परिग्रह-त्याग प्रतिमा' में श्रावक को धन-धान्य आदि समस्त सांसारिक वस्तुओं से अनासक्ति हो जाती है।

दसवीं प्रतिमा 'अनुमति-त्याग' की है इस प्रतिमा में स्थित श्रावक अपने पुत्रादि को किसी भी कार्य के लिए अनुमति देना त्याग देता है अर्थात् विरक्त हो जाता है।

ग्यारहवीं प्रतिमा का नाम 'उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा' है, इस अवस्था में उपासक गृह त्याग देता है। मुनि के आश्रम में जाकर ग्यारहवीं प्रतिमा का व्रत लेकर तपस्या करता है, मुनि संघ में रहते हुए भिक्षावृत्ति से आहार लेता है तथा कोपीन और खंड वस्त्र धारण करता है। इस प्रतिमा को धारण करने वालों के दो भेद होते हैं- प्रथम 'क्षुल्लक' जो कोपीन और खण्डवस्त्र धारण करते हैं, कैंची अथवा छुरे से अपना बाल बनवाते हैं तथा पात्र में भोजन करते हैं। द्वितीय 'एकल' जो कोपीन मात्र धारण करते हैं, केशलोच स्वयं करते हैं तथा आहार हाथ में लेकर करते हैं। एकल तथा दिगम्बर मुनि (श्रमण) की चर्या एक समान ही है। अन्तर सिर्फ इतना है कि ये (एकल) कोपीन धारण करते हैं, जबकि दिगम्बर मुनि सर्वथा नग्न रहते हैं। डॉ. सागरमल जैन के शब्दों में, "यह अवस्था गृही साधना की सर्वोत्कृष्ट भूमिका

है। साधक अपने विकास के चरण में श्रमण या मुनि जीवन को स्वीकार कर लेता है या संथारा ग्रहण कर देह त्याग देता है, इसे श्रमण जीवन की पूर्व भूमिका भी कहा जा सकता है।^{३३}

इस प्रकार श्रावक उपर्युक्त प्रतिमाओं का क्रमशः पालन करते हुए अपना नैतिक विकास करता है तथा साधना के अन्तिम आदर्श को प्राप्त करता है।

उपर्युक्त निर्वचित श्रावक धर्म के विविध पक्षों के विश्लेषण से यह दिग्दर्शित होता है कि इनका नियोजन व्यक्ति के व्यक्तिगत नैतिक जीवन के उन्नयन एवं सामाजिक जीवन की साधुता के उत्कर्ष के लिए किया गया था। निःसन्देह जैन धर्म के ये सिद्धान्त भारतीय सांस्कृतिक जीवन के मूल्यवान् उपादान सिद्ध हुए हैं।

सन्दर्भ :

१. श्रावकधर्मप्रज्ञप्ति, ६
२. तत्त्वार्थसूत्र, ७/१-२, उमास्वामी, विवेचक - पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, गणेशप्रसाद वर्णी दिगम्बर जैन शोध संस्थान, नरिया, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९९१, पृ. XXVII
३. रत्नकरण्डश्रावकाचार, समन्तभद्र, श्री मुनिसंघ साहित्य प्रकाशन समिति, सागर, चतुर्थ संस्करण, १९९२, श्लोक ५३, पृ. १०१
४. उपासकदशांग, सम्पा. मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान), १९८०, १/४१, पृ. ३९
५. रत्नकरण्डश्रावकाचार, उपरोक्त, श्लोक ५५, पृ. १०१
६. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, स्वामी कार्तिकेय, श्रीपरमश्रुत प्रभावक श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, आगास, १९६०, ३३३-३३४, पृ. २३९
७. भगवतीसूत्र, ८३५
८. तत्त्वार्थसूत्र, उपरोक्त, ७/२६, पृ. XXVIII
९. वही, ७/५, पृ. XXVII
१०. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, उपरोक्त, ३३५-३३६, पृ. २४१
११. रत्नकरण्डश्रावकाचार, उपरोक्त, श्लोक ५७, पृ. १०९
१२. तत्त्वार्थसूत्र, उपरोक्त, ७/२७, पृ. XXVIII

32 : श्रमण, वर्ष 65, अंक 2/अप्रैल-जून 2014

१३. तत्त्वार्थसूत्र, उपरोक्त, ७/६, पृ. XXVII
१४. रत्नकरण्डश्रावकाचार, उपरोक्त, श्लोक ५९, पृ. ११३
१५. तत्त्वार्थसूत्र, उपरोक्त, ७/२८, पृ. XXVIII
१६. वही, ७/७, पृ. XXVII
१७. उत्तराध्ययनसूत्र, व्याख्याकार - आचार्य आत्माराम जी महा., सम्पा. आचार्य शिवमुनि जी महा., आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव, आगम प्रकाशन समिति, लुधियाना तथा भगवान महावीर मेडिटेशन एण्ड रिसर्च सेन्टर, दिल्ली, २००३, ९/४८, पृ. ३३५
१८. रत्नकरण्डश्रावकाचार, उपरोक्त, श्लोक ६१, पृ. ११६
१९. तत्त्वार्थसूत्र, उपरोक्त, ७/२९, पृ. XXVII
२०. वही, ७/८, पृ. XXVII
२१. मेहता, डा० मोहनलाल, जैन आचार, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, २०१२, पृ० ८५
२२. रत्नकरण्डश्रावकाचार, उपरोक्त, श्लोक ६७, पृ. १४४
२३. धर्मसंग्रहश्रावकाचार, ५३/७
२४. वही, ५३/७
२५. रत्नकरण्डश्रावकाचार, उपरोक्त, श्लोक ७५, पृ. १५४
२६. वही, श्लोक ८१, पृ. १६१
२७. वही, श्लोक ९१, पृ. १७३
२८. सागारधर्मामृत, पं. आशाधर, सम्पा. अनु. - पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९४४, ५/२७, पृ. २२९
२९. रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक १०५, उपरोक्त, पृ. १८९
३०. सागारधर्मामृत, उपरोक्त, ५/३४, पृ. २३६
३१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, अमृतचन्द्र सूरि, अनु. विजय कुमार जैन, विकल्प प्रिण्टर्स, देहरादून, २०१२, श्लोक १७९, पृ. ११७
३२. मेहता, डॉ. मोहन लाल, जैन आचार, उपरोक्त, पृ० १५२
३३. जैन, डॉ. सागरमल, जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, १९८२, पृ० ३२३

भक्ति रत्नावली : एक अनुशीलन

अर्चना शर्मा

जैन धर्म के अनुसार तीर्थकरों की दिव्यध्वनि सात सौ अठारह भाषाओं में परिणत हुई मानी गई है, इनमें से अठारह महाभाषाएँ मानी गई हैं और सात सौ लघु भाषाएँ हैं। इन महाभाषाओं के अन्तर्गत ही संस्कृत और प्राकृत को सर्व प्राचीन एवं प्रमुख भाषा के रूप में स्वीकृत किया गया है।^१

लोकपरक सुधारवादी रचनाओं का प्रणयन जैनाचार्यों ने प्राकृत भाषा में ही प्रारम्भ किया। भारतीय वाङ्मय के विकास में जैनाचार्यों के द्वारा विहित योगदान की भूरि-भूरि प्रशंसा डॉ० विण्टरनिट्स ने की है।^२

प्रसिद्ध जैन आगम ग्रन्थ अनुयोगद्वारसूत्र में प्राकृत और संस्कृत दोनों भाषाओं को ऋषिभाषित कहकर समान रूप से सम्मान प्रदर्शित किया गया है। संस्कृत में जैन साहित्य विपुल मात्रा में उपलब्ध है, जो विविध धाराओं में संप्रवाहित है।

परमपूज्य आचार्य श्री आदिसागरजी महा. (अंकलीकर) के द्वितीय पट्टाधीश आचार्य श्री महावीरकीर्तिजी महा. के तृतीय पट्टाधीश आचार्य श्री सन्मत्तिसागरजी महा. के चतुर्थ पट्टाधीश परमपूज्य आचार्य योगीन्द्रसागरजी महाराज ने श्रमण संस्कृति के प्रचार-प्रसार में बोधगम्य, सरल भाषा में शताधिक रचनाओं के माध्यम से महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।^५

योगीन्द्रसागर जी ने संस्कृत में उच्चकोटि के साहित्य की रचना कर २१वीं शती में संस्कृत मनीषियों के मध्य स्वयं को स्थापित किया है। भक्तिरत्नावली^६ उनकी महत्त्वपूर्ण रचना है।

वे गत दो दशकों से 'संस्कृत एवं हिन्दी में अनेक पूजाभक्ति एवं नीति साहित्य-सजृन से भारतीय वाङ्मय की श्रीवृद्धि में अनुपम योगदान कर

रहे हैं।' आचार्य समन्तभन्द्र के शब्दों में 'ज्ञान ध्यान तपोरतः तपस्वी सः प्रशस्यते।' वस्तुतः आचार्य श्री ज्ञान-ध्यान में तपस्वी बन कर स्व-पर के कल्याण में मोक्षमार्ग को प्रशस्त कर रहे हैं।

आचार्य श्री की समस्त संस्कृत साहित्य कृतियों की भाषा अत्यंत सरल और सौष्ठव पूर्ण है और उसमें माधुर्य का भी समावेश है। उसमें प्रायः लम्बे समासों तथा क्लिष्ट पदावली का अभाव है। उनकी वाक्य योजना सरल किन्तु प्रभावोत्पादक है। भाषा में कहीं अस्वाभाविकता के दर्शन नहीं होते हैं। यही कारण है कि उनके श्लोकों एवं टीका ग्रन्थों को पढ़ते ही उनका अभिप्राय ज्ञात हो जाता है।

पूज्य बालाचार्य श्री योगीचन्द्र सागर जी महाराज द्वारा रचित 'भक्ति रत्नावली'^६ अपरनाम आराधनाषष्टि संस्कृत भक्ति साहित्य की अनुपम कृति है। यह संस्कृत के विभिन्न ६२ छन्दों में निबद्ध भक्ति की मुक्तक काव्य रचना है, जिसमें स्वनाम धन्य रचनाकार ने अपने अन्तर से निःसृत भक्ति भावों को रत्नावली के रूप में गूँथा है, जहाँ आराधक अपने आराध्य से आत्माराधना पूर्वक उनके सामीप्य की मनोभिलाषा रखता है-

प्रस्तुत रचना के माध्यम से आचार्य ने भगवान के प्रति भक्ति करने के विभिन्न उपायों को यहाँ दर्शाया है। हमें भक्ति क्यों करनी चाहिए एवं किस प्रकार से करनी चाहिए इन सभी की विस्तृत व्याख्या 'भक्ति रत्नावली' में की गई है। भक्त भगवान से प्रार्थना करता है^७-

नो मुक्त्यैस धृत्यामिनाथ विभवैः कार्यं न सांसारिकैः,

किं त्वा योज्य करौ पुनः पुनरिद् त्वामीशमभ्यर्थये।

स्वप्ने जागरणे स्थितौ विचलने दुःखे सुखे मन्दिरे,

कान्तारे निशि वासरे च सततं भक्ति मामस्तु त्वयि।।३७।।

हे नाथ! मुझे न तो मुक्ति की इच्छा है और न सांसारिक वैभव से ही प्रयोजन है। हे ईश! मैं तो हाथ जोड़कर आपसे बारम्बार यही माँगता हूँ कि सोने, जागने, खड़ा होने, चलने, सुख-दुःख, घर, वन, रात्रि और दिन में सब समय आप में मेरी भक्ति बनी रहे।

वस्तुतः 'भक्तिरत्नावली' बालाचार्य श्री के गम्भीर ज्ञान व तप से प्रसूत है। भाव भाषा एवं छन्दोपमा की दृष्टि से यह मुक्तक काव्य रचना भक्ति साहित्य की निधि है, मानव मात्र के मोक्ष पक्ष में पाथेय स्वरूप है। आत्मा निश्चित ही शुद्धभक्ति परम्परा से मोक्ष का साधन है, आनन्दानुभूति प्रदान करती है।

जिनमें नाम कीर्तन में तत्पर चाण्डाल भी अपने समस्त कलिमल का नाश करके सम्पूर्ण संसार को निश्चय ही पवित्र कर देता है, वे दीनबन्धु हमारे सभी पापों को अपनी दया दृष्टि से भस्म करके मेरे सामने प्रकट हों ॥३८॥^८ स्वयं को संबोधित करते हुये कवि की मर्मोक्ति है- अरे चित्त! तू निरन्तर जिनेन्द्र भगवान के चरणों का स्मरण कर, जिससे तू भवसागर से पार जा सकेगा। पुत्र, कुल तथा अन्य कोई तेरे सहायक नहीं है। मित्र बन सबको तू मृगतृष्णा के तुल्य समझ ॥४०॥^९ कवि का दृढ़निश्चय है-भलीभांति निश्चित की हुई बात मैं आपसे कहता हूँ मेरे वचन अन्यथा नहीं हैं, जो मनुष्य भगवान का भजन करते हैं वे अत्यन्त दुस्तर संसार सागर से तर जाते हैं ॥३३॥^{१०}

आराध्य के प्रति आत्मसमर्पण, भवसागर से तारने की याचना, अनन्य भक्ति-भाव, अपने दोषों का उद्घाटन एवं उपास्य के गुणों का स्मरण, उपालम्भ द्वारा अपने उद्धार की कामना भक्ति रत्नावली की विशेषता है। स्वयं कवि के शब्दों में (गद्यानुवाद) में, "हे नाथ! मुझ पर कृपा कीजिए कि मैं विषयों से विरक्त और ध्यान में मग्न होकर आपके चरणारविन्दों का स्मरण करता हुआ तन्मय हो जाऊँ ॥६२॥"^{११}

बालाचार्य योगीन्द्रसागरजी महा. ने अपने हृदयकमल, आठ पंखुरियों वाले (अष्टदल कमल), की प्रत्येक पंखुरी पर तीन तीर्थकर विराजित कर चौबीस तीर्थकरों के प्रति समर्पित भाव रखते हुए भक्ति द्वारा स्तुति करके सर्वज्ञ परमात्मा के प्रति स्वयं भक्ति सरिता में अवगाहन करके अपने शिष्यों जिनेन्द्र भक्तों के परिणामों की विशुद्धि हेतु इस ग्रन्थ की रचना की है।

'भक्ति रत्नावली' अनुपम मुक्तक काव्य है। आचार्य कुन्दकुन्द ने ईसा की प्रथम शताब्दी में क्रमशः सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति

36 : श्रमण, वर्ष 65, अंक 2/अप्रैल-जून 2014

तथा आचार्य भक्ति के साथ निर्वाण भक्ति की रचना की है। पार्श्वदास अनूदित 'दशभक्ति' भी स्मरणीय है।

विक्रम की द्वितीय शताब्दी में आचार्य उमास्वामि ने तत्त्वार्थसूत्र में श्रद्धा, विनय, वैय्यावृत्य सम्बन्धी अनेक सूत्रों का निर्माण किया। तीर्थकरत्व नामकर्म के उदय में भक्ति को कारण बताया है। आचार्य समन्तभद्र ने 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' में श्रद्धा, विनय, वैय्यावृत्य, जिनेन्द्र और गुरु भक्ति पर भी समीचीन प्रकाश डाला है। सच्ची भक्ति के कारण वे परम बने थे। आचार्य योगीन्दु का छठीं सदी का परमात्मप्रकाश, आचार्य यतिवृषम की 'तिलोयपण्णती' तथा आचार्य शिवकोटि की सातवीं सदी की 'भगवती आराधना' महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक रचनायें हैं। इसी परम्परा में पूज्य आचार्य श्री योगीन्द्रसागरजी महाराज द्वारा रचित 'भक्तिरत्नावली' मुक्तक काव्य का अनुपम उदाहरण है। कविहृदय आचार्यश्री ने अपने धार्मिक हृदय की भक्ति-गावना को अभिव्यक्त किया है।

आचार्यश्री ने ३४वें पद्य में कहा है-

“भव दुःख घरट्टेन, पिष्यन्ते सर्व मानवाः,

दुःखमुक्त सदानन्दः, जिनभक्तो हि केवलः।।”^{१२}

संसार के सभी प्राणी दुःखरूपी चक्की में पिसते जा रहे हैं। केवल नित्यानन्द स्वरूप जिनभक्त ही दुःख से बचे हुए हैं।

'भक्ति रत्नावली' के बासठवें पद्य में आराध्य के प्रति समर्पण, भवसागर से तारने की याचना, अनन्य भक्तिभाव, अपने दोषों का उद्घाटन, उपास्य के गुणों का स्मरण, उपालंभ द्वारा अपने उद्धार की कामना, 'भक्ति रत्नावली' की विशेषता है। स्वयं कवि के गद्यानुवाद में- “हे नाथ! मुझ पर कृपा कीजिए कि मैं विषयों से विरक्त और ध्यानमग्न होकर, आपके चरणारविन्दों का स्मरण करता हुआ तन्मय हो जाऊँ।

“कदा श्रुङ्गेस्फीते मुनिगरण पदीते हिम नगे,

दुमा वीते शीते सुर मधुर गीते प्रति वसन् ।

**क्वचिद्धया नासक्तो विषय सुविभक्तो भव हर,
स्मरते पादाब्जं जनि हर समेष्यामिविलयम् ।।^{१३}**

वास्तव में 'भक्ति रत्नावली' आचार्य प्रवर श्री योगीन्द्रसागरजी महाराज की 'गागर में सागर भरने वाली संस्कृत भाषा में रचित अनुपम कृति है।

भरत मुनि^{१४} ने शांतरस को सर्वप्राणी सुखहित माना है, क्योंकि इस रस में ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापारों से विरत हो आत्म संस्थित हो जाती हैं। पूज्यश्री की यह रचना भक्ति से परिपूर्ण है तभी सभी प्राणियों के कल्याण के लिए समर्पित है अतः इसमें शान्त रस का प्रयोग देखने को मिलता है। इसमें गम्भीर ज्ञान तथा तपस्या का परिपाक है।

भाषा भाव तथा छन्दोपमा की दृष्टि से यह भक्ति साहित्य की अनुपम रचना है। इसमें वसंततिलका छन्द का प्रमुखता से उपयोग किया गया है। साथ ही अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित छन्द भी देखने को मिलते हैं।

बालाचार्य योगीन्द्रसागर जी महाराज ने अपनी भक्ति रत्नावली में वर्णन को प्रभावक एवं शोभन बनाने के लिए शब्दालंकार और अर्थालंकारों का सुष्ठु सन्निवेश किया है। इसमें उपमा, रूपक और अनुप्रास प्रमुख हैं। इसके अलावा कहीं-कहीं उदात्त अलंकार का प्रयोग भी देखने को मिलता है।

भक्ति रत्नावली ग्रन्थ में प्रसाद गुण की छटा परिलक्षित होती है, साथ ही माधुर्य गुण का भी सुन्दर प्रयोग किया गया है।

पूज्य श्री की इस रचना में वैदर्भी रीति का विशेष प्रयोग दृष्टिगत होता है, क्योंकि सुकुमारता, सरलता एवं मधुरता की दृष्टि से इस रीति का विशेष महत्त्व है।

'भक्ति रत्नावली' में अध्यात्म और दर्शन के दुरूह तत्त्वों को सहज, सरल और बोधगम्य बनाने के लिए सुललित शैली में विश्लेषित करने का सफल और प्रशंसनीय उपक्रम किया गया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि काव्यगत सौन्दर्य की झलक भी इसमें सर्वत्र परिलक्षित होती है। शब्दचयन एवं भाव की दृष्टि से पद्य अत्यन्त उच्च कोटि के हैं। शब्द-सौष्ठव तथा पदावली का समधुमय विन्यास देखते ही बनता है। विपुल अर्थ को कम से कम शब्दों में प्रकाशित करने की क्षमता विद्यमान है। हृदय के परिवर्तनशील भावों का अंकन कमनीय शब्द-कलेवर में किया गया है। यहाँ न तो कल्पना की उड़ान है और न प्रतीकों की योजनायें, पर भावों की प्रेषणीयता इतनी प्रखर है कि प्रत्येक पाठक भाव गंगा में निमग्न हो जाता है।

मानव मात्र को क्रमशः मोक्ष पथ में जाने का पाथेय स्वरूप है। आत्मानुभूति से परिपूर्ण मुक्तक काव्य है। भक्ति रत्नावली अनोखी प्रतिभा का सफल उदाहरण है।

सन्दर्भ :

१. अनुयोगद्वार सूत्र, श्लोक १२७, सम्पा. मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)
२. विण्टरनिक्स, एम., द जैन्स इन द हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, अहमदाबाद, १९४६, पृ० ४
३. विनायका, डॉ० संगीता, गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी की संस्कृत रचनाओं का साहित्यिक एवं दार्शनिक अनुशीलन- इन्दौर, २०१०, पृ० २५३
४. जैन, डॉ० अनुपम, पराविद्याओं के विशेषज्ञ, खण्ड विद्या धुरन्धर बालाचार्य श्री योगीन्द्रसागर जी महाराज का साहित्यिक अवदान- खण्ड विद्या धुरन्धर, व्याख्यान वाचस्पति, योगविद्या मार्तण्ड, बालाचार्य श्री योगीन्द्रसागरजी महाराज की ४८वीं वर्षगांठ के अवसर पर जनहितार्थ प्रकाशित, इन्दौर, १७ फरवरी, २००९, पृ० १-५
५. भक्ति रत्नावली- बालाचार्य योगीन्द्रसागर, नेशनल नॉन वॉयलेंस यूनिटी फाउण्डेशन ट्रस्ट, उज्जैन, २००६
६. वही
७. वही, श्लोक ३७
८. वही, श्लोक ३८

९. भक्ति रत्नावली, श्लोक ४०
१०. वही, श्लोक ३३
११. वही, श्लोक ६२
१२. वही, श्लोक ३४
१३. वही, श्लोक ६२
१४. नाट्यशास्त्र, पद्य ७६२

Śivācārya Dhyānāmṛtam

Acharya Shivmuni ji,

Trans. Dr. Ashok K. Singh

(Revered Ācārya Dr. Śivamuni ji Mah. is not only a great practitioner of Ātma Dhyāna-self realization but also a preacher of this type of Meditation. He has written a number of books depicting the theoretical and practical aspects of Ātma dhyāna. A smaṛ tract "Dhyānāmṛtam" written by His Holiness presents a brief sketch of Ātma Dhyāna. The English translation of the Dhyānāmṛtam is presented herein.....)

-Editor

Self-Realization (Ātmānubhūti)

1. Self- Realization is the practice of purification of the self.
2. Self- Realization is the practice of knowledge of discrimination (Bheda Jñāna)
3. Self- Realization is the spiritual culture of India.
4. Self- Realization is the experience of the practice of passionless or detached.
5. Self- Realization brings mental peace.
6. Self- Realization brings physical health.
7. Self- realization brings spiritual development.

Some Important Suggestions Prior to Self-Realization

Practitioner should resolve firmly before meditation as follows-

- (1) I will remain delightful in all circumstances.
- (2) I will perceive favourable even if circumstances are adverse.
- (3) I will be free from self- praise and other's censure.

- (4) I will accord priority to practices in life.
- (5) I will practice without any worldly or out worldly aspiration.
- (6) I will cultivate the spirit of fraternity.
- (7) I will abide by the time- schedule fixed for meditation. I will meditate that time in any case.
- (8) I will ensure full utilization of the time.

Self-Realization: The Discovery of Soul

It is essential for the human being of modern age to know and practice self- realization. Self- realization is the wonderful process of realizing religion in life. It is of phonetic form and essence of religion. Self- realization is the easiest and speedy path leading to the innate nature of soul.

Self-Realization Is that of Inner

Self -Realization Is that of Inner. It is impossible to communicate realization in its totality. Khalil Zibran says, " I use to define love majestically till my heart filled with the sentiment of love. But the moment I realized love all the definitions proved futile in communicating that realization. Similarly is the case with the realization of meditation.

Self-Realization is Inner Awakening

Meditation is living detachedly. It is the event of inner awakening. Through vigilant meditation your intellect will become awake and consequently your discretion will go along with you. Attachment cannot cling and delusion cannot delude. Thus meditation is inner-awakening, inner- discretion.

Self-Realization is the Essence of Religion

Meditation is entering the real nature of self, away from attachment and aversion. Religion and science are supplement to each other, are the two sides of the same discovery. The discovery of science is

external, while that of religion is internal. Whereas science takes one away from the self, religion brings him closer to the self. This closeness is meditation. Meditation is the root of religion, reality of religion. The meaning and essence of religion is meditation.

Self-Realization is the Art of Living in Present

Self-realization is the practice of living in the reality of present moment, parted from past memories and future imaginations. Generally, man is miserable, unable to accept the realities of life as it is, with ease. He attempts to change these according to his mind which is the rejection of truth of life, while meditation is the practice of truth. To accept the present moment in a positive manner is the aim of meditation.

Self-Realization is the Practice of Psychic Stoppage and of Cessation

Self-realization is psychic stoppage. To cease the influx of new impurity is stoppage. Meditation is soul-purification; it is process of annihilating old accumulated internal impurity. To cope with the present circumstance with equilibrium of mind is Right conduct and that is meditation. Free from any effort to retain the present situation or keep away from it, to maintain one's equilibrium is the practice of psychic equanimity and is meditation as well.

Self-Realization: the process of arousing Mahavirahood

How we attain purity, how to light the inner like sun, how we become solemn like sea, how we attain the eternal state of enlightened and that of omniscience. All these virtues are inherent in us. Mahavirahood, Buddhahood and Yogahood are inherent in us but in form of seed, are slept and undeveloped. The very practice to develop these seeds is self-realization.

Self-Realization: the practice of state of Knower and Seer

Acārya Amītagati preached, "Absolute soul in form of bliss, free from entire volition- *vikalpa*, always remain engrossed in nature, *Yogin* himself knows the reality."

Thus the state of tranquillity and silence, with neither volition nor *vikalpa*, is meditation. Observing the sound of *So'ham* with the natural process of inhaling- exhaling, thought is pacified. After all thoughts are pacified, to remain in the innate state of knower and perceiver, beyond mind, body and speech, is self-realization.

The Benediction of All

By self-realization, the practitioner gets the experience of leading relaxed, simple, tension free and every moment blissful life. The practitioner gets rid of incurable diseases, at increase in present, increase in working capacity, sweetness in mutual relations, expansion of magnanimity of heart above intellect. He experiences the feeling of welfare of the whole world or the benediction of beings. The self-realization brings benediction in one's self, in family and in universe. It leads to all- round growth of human being as well as religion of mankind and benediction of the universe.

Self- Realization facilitates the sacred path of benediction of all. Self- Realization is the bridge of the welfare of the universe with that of self. It spreads the spirit of welfare and benediction everywhere.

Self-Realization: Return to the Original State

Everything has its original state, for example, that of water is coldness. To heat up the water one has to make effort. Put it on the fire. We have to make some external effort through electricity or the heat of sun to make the water hot. But again it will return the original state after effort is withdrawn. What is the original state of Water? Coldness. Similarly, what is the original state of fire? Hotness. Likewise you also have an original state, i.e. original state of your being. To return to that original state of yours is self-realization. It is state of detached, state of knower and perceiver.

Self-Realization: Powerful Means of Stability

Self- Realization is prime among the rituals. Herein the practitioner reaches trans-mind fast and the velocity of mind is obstructed soon.

Sometimes, it appears mind is not stable in meditation but it becomes absorbed in prayer, self-study etc. It is because during prayer and self-study, mind receives new thoughts hence its fickleness is not noticed but during meditation because of single recourse the fickleness of mind is noted straightaway.

Self- Realization Awakes in Restraint

Meditation is very necessary for monks because without meditation enthusiasm and vigour in observing the vows is difficult. Some monks do live restrained life but without enthusiasm, their interest lacking in restraint. One may easily control the body and speech but to control the mind is very tough. Unless the mind is controlled the practice performed with speech and body is not much beneficial, inner is not connected with it. Meditation while restraining the mind, speech and body turns all the activities sentient. Restraint becomes quite interesting to the practitioner who is engrossed in meditation. *Raso vai saḥ*. He is *Rasa* and nothing is more blissful for him than meditation.

Self-Realization is the Soul-Bath

Bathing is two-fold: physical bath and that of soul. Purity of the body is achieved through bath by water, while that of soul is achieved by meditation. As water-bath makes our body fresh, neat and remove tiredness, in the same way through bath in form of meditation soul becomes pure. By taking bath in lake like meditation, getting rid of anger etc. passions, violence etc. demerits you become pure, enlightened, nirañjana, which is nature also.

Self-Realization is the Bridge of Acceptance of Truth

Every one professes to speak truth but rarely one likes to listen the bitter and harsh truth and only a hero is able to absorb this truth wholly. Only he can fully absorb the truth who has realized the truth within himself, who has perceived the truth within himself. Meditation nourishes tolerance and practice of meditation continuously leads

the practitioner to absolute truth. Thus meditation increases the power of listening and absorbing the truth with equanimity.

Indispensability of Self-Realization

Owing to ultra-modern researches physicians are bound to accept that psycho-physical diseases can be cured through meditation. Dr. Venson writes in 'The Physiology of Meditation', "In modern society serious diseases like blood-pressure etc. because of mental disorder etc. cause excitement in sympathetic nervous system. In self-realization, the excitement subsided, diseases are cured automatically.

Internal Background of Self-Realization

We fully connect our mind through natural inhale-exhale with the sound of So'ham' diverting our attention from external environment. By repeated observation of the sound of So'ham', thought is gradually pacified, when thought are pacified we remain in soul. To remain in soul is the occurrence of meditation. Doing to being is meditation. We cannot pacify thought by force. The more we shall attempt to control thought; the series of thoughts will be on the rise. Thus, to observe thought as knower and perceiver is meditation.

Self-Realization: Practice of Three Controls (Triguṇṭī)

In *Kāyotsargasūtra*, it is mentioned, thāṇeṇaṃ moṇeṇaṃ jhāṇeṇaṃ appāṇaṃ vosirāmi

I abandon myself with the steadiness of body, silence of speech and meditation.

Thāṇeṇaṃ- steadiness of body,

Moṇeṇaṃ- Silence of speech

Jhāṇeṇaṃ- by making mind steady in meditation, withdrawing from evil thoughts and become stable in silence.

We may term it the practice of three controls (*triguṇṭī*). To keep mind, speech and body in control is *triguṇṭī*, the very heart and vital

force of ascetic life. In this state of control over three *guptis*, occurs the cessation of innumerable karmas.

Breathing- a Link between Body and Soul

Breath will easily carry you to soul. Therefore I adopted the medium of breathing. If you recite a *mantra* or an incantation, repeatedly reciting of that *mantra* is *japa*, not meditation. To recite *mantra* (*japa*) is not an evil, it is good, but it is not meditation. We have meditated. Nothing to align with breathing, nor *mantra*, no form, no colour, no shape, nothing; except pure natural and inherent breath. Sitting in calm afterward.

Self-Realization - Self-Purification

Following aspects are included in the self purification:

Physical Purity- through various ancient Yogic activities.

Purity of Speech- through restraint in speech and practice of silence,

Purity of Food- like food like mind, feeling and experience of pure diet.

Vital Purity- through breathing exercises (pranayama) and various sounds.

Purity of Mind- Purification, through meditation and equanimity, of mind vilified by vices and ill thoughts, realization of pure consciousness.

Thus it is a complete practice, total purity of soul. In the practice of self-realization, there is a special experiment on above- mentioned purification.

Self-Realization: Purity of Self

Bliss is our nature, peace is within us and we are knowledge ourselves.

- Why then human being is trapped in the *cakravyuha* of sorrow.
- Why then he is troubled with restlessness.
- Why then is he roaming in darkness and ignorance?

The answer to all these lies in the distance from self.

Introduction with the self brings the experience of healthiness in body, peace in mind and bliss within. For the introduction with the self purity of the self is essential.

From the constant journey in state of knower and seer the soul is purified. As the darkness disappears as soon as the sun rises similarly with the rise of the state of knower and the perceiver of the soul, the darkness of ignorance and unrest disappears.

Meditating on Omkāra

First deep breathe in, then while breathing out utter two syllables O&M separately. Again utter O&M in continuation. Then utter O and M in ratio of 2:1 of the length of breathe. If anyone unable to do as above mentioned should utter Om with deep breathing.

Utter *Omkār* at least 3, 11, 21, 51,108 times. Thus taking deep breathe and uttering. After uttering calmly meditate on *Omkāra*. Between the two utterances there should be interval.

Meditation & Sleep

There is a similarity between meditation and sleep. In meditation also you are in a state of doing nothing like in the sleep. But in sleep you are not even aware of yourself, because you are faint but in meditation you are wholly ware of yourself because you are conscious. So if awareness is added to sleep it will become meditation. Or if faintness is added to the meditation it will become asleep.

Pratikramaṇa

Tassa Micchāmī Dukkaḍaṃ

Mi- My Mera

Tassa - He

Duṣkṛtya- Ill deed

Micchā- Be false

It is not any sort of command, promise or declaration. It is experience. When someone consciously recollects again and again his routine, he recalls his acts performed non- vigilantly or as a doer, his acts may be good or evil. In practice it may also be charity and theft too. But whatever was committed it was due to delusion, under the effect of anger, pride, deceit or greed. When he observes all that as knower or perceiver, it appears like dream. That is *tassa micchāmī dukkaḍaṃ*.

Time for Meditation

There is no specific time for meditation one can meditate when one has time or is suitable to his routine. However, it is desirable to fix a particular time for meditation. To meditate at an appointed time sustains the practice. But if unable to fix a definite time one ought to meditate according to his convenience.

Why Meditation?

If we meditate with expectation, the meditation will not be possible because mind will cling to that expectation. For example, if I have to meditate for mental peace, then while sitting in meditation I will wait for mental peace and will not be able to meditate. Therefore, one should meditate without expectation and without desire. Expectation is not desire.

Self-Realization in Group

By practice of meditation in group each practitioner gets support from those of others. The enthusiasm and stability increases in practice. If there are more than one practitioner in a family and they practice together daily, or if not possible daily, even weekly, that practice in group will bring peace, equanimity and bliss in family. Mutual problems are also solved naturally.

Fruit of Self-Realization

Equanimity is the ultimate result and excellent aim of meditation. Length of time we sit in meditation is not the standard of progress of meditation. The success of meditation lies in the natural relaxation, equanimity, natural silence and natural politeness. Equanimity is the basis for other practical and spiritual achievements. Equanimity is ultimate wealth, is religion. With the advent of equanimity in life other virtues follow in the same way as army follows the commander.

Self-Realization: Means of Liberation from Karma

The magnitude of Seers and liberated ones is infallible. Our aim is to be like them, it is our volition, and our effort must be to practice on this path. The practice of meditation is not freedom from tension, pain and sorrow. It is the practice of freedom from cycle of birth and death. Soul is roaming in four states of birth from time immemorial. One, who realizes it, is bound to make effort to get rid of it. The soul is within body, in soul are its eight qualities and it is surrounded by eight karmas. For manifestation of the eight qualities of soul, the annihilation of eight karmas is essential. For the annihilation of eight karmas, meditation and body relaxation (*kāyotsarga*) is an excellent mean. Impressions (*samskāra*) accumulated through series of lives may be annihilated through one *sāmayika*. We should give importance to detached equanimity,, the practice of meditation and body relaxation in life.

Awake - Perception of Soul

Liberation is the state of your mind. If there is perception of soul, sinful activity will not bind. In absence of perception of soul sinful activity will bind. There should be discretion within us. With discretion soul-perception will follow and there will not be karma- bondage. The perception of soul brings natural peace of mind and eight karmas clung towards the soul, will be annihilated automatically. We have to make effort to annihilate only four out of eight karmas. And Out of four karmas also we have to annihilate only deluding (*mohanīya karma*). If this karma is annihilated we shall attain knowledge of sol. Knowledge is

within us we have only to realize it. For its realization practice is needed. One who will practise will positively realize the knowledge of self.

What is Pure Detached Equanimity?

In Jain tradition, the practice of equanimity is called *sāmayika*. In *sāmayika*, mournful (*ārta*) and revengeful (*raudra*) types of meditation are prohibited, i.e. thought of me and my and that of hurting others is prohibited. Generally equanimity is three-fold-

(1) Inauspicious Equanimity, (2) Auspicious Equanimity (3) Pure Equanimity

(1) Inauspicious Equanimity,

The duration of equanimity of a lay-votary is forty-eight minute while that of a monk is life-long. If talk of lay- votary or monk is full of jealousy, hatred, ill will, backbiting, pride, insult, deceit, greed and selfishness, after performing equanimity, his *sāmayika* will be inauspicious and its consequences will be sin and the fruit of sinful activity, inauspicious state of birth- plant and animal kingdom and hell.

(2) Auspicious Equanimity,

After performing equanimity, prayer, hymn, *japa*, eulogy, self-study etc. activities are performed. If these activities are performed with pure disposition it causes cessation of karma, and if performed with auspicious disposition it brings virtues. In this equanimity, there is generally auspicious disposition. Its fruit is state of human being or divine state.

(3) Pure Equanimity

In this type of equanimity, who am I? What is my nature? What is the aim of my life? Aware of these one remains in the detached state. Equanimity which is performed free of thirty two blemishes is detached equanimity. Herein ten blemishes each of mind and speech and twelve of body are removed.

What to Do for Attaining Abode of Liberated Ones

Reflect on unitariness while living in the world. You are unitary in the whole universe, absolutely unitary in fifteen lands of action. A pure soul existent in the body of an aspirant / practitioner, whose aim is to discover the absolute soul, hidden in your soul. You have attachment with none. You have hatred with none. You know, confess and accept that this soul is roaming in endless births from time immemorial. You entering the unfathomable depth should strive for liberating your soul from the entire obstructive karmas densely clinging all-round the soul and strive for taking back the soul to fifth state, the abode of liberated ones, getting it out of cycle of state of four births.

Nature of Soul

Neither I am older nor younger, neither monk nor householder, neither good nor bad, neither full of virtues nor full of vices, neither rich nor poor, neither wise nor foolish, neither superior nor inferior, I am only a pure soul, Pure, enlightened, spotless or void of passion, formless, indestructible, immortal, eternal and three time truth.

Sense of Gratitude

Have a sense of gratitude with each breath. Your gratitude should be dedicated to Enlightened, in the feet of gods and goddesses, in the feet of your teacher who associated you with the religion of detached. There should be a sole aim whether eyes closed or open—I and my abode of liberated, I will go there, return there, disappear there. None is mine, to realize this unitariness, to live in unitariness, thus strengthen the reflection on unitariness.

Process of Destruction of Karma: Science of Differentiation

Generally, a person feels I am not free, I have so many problems—that of house, family, occupation, so how I practise? But soul may annihilate karmas through science of differentiation along with these problems. For reflection on soul, the activities of body and its relations are not a hindrance. What is needed is the perception of

soul and independent feeling. Thus every soul is free for purification of soul.

Science of Differentiation

I am a pure soul, body is resting, sleeping is the nature of body, and laziness is the nature of body. I (soul) have no sleep, no laziness; I am pure soul, only knower and perceiver. With this feeling we can save ourselves from bondage of karma. Otherwise, there will be bondage of karma whole night. Likewise after getting up in the morning you will observe that there was laziness, non- vigilance in body. I (soul) was vigilant whole night. This is the absolute practice science of differentiation where there is no bondage but liberation.

Nature of So'ham

So i.e. That Venerable Liberated.

Aham i.e. I am pure soul. Both are same.

So i.e. Those souls of hell and general body plants or micro- organism and *Aham* i.e. I am same regarding the purity of soul.

So i.e. All those souls of animal and plant kingdoms and I pure soul are the same.

So i.e. Those deities of twenty six heavens and I (soul) are the same.

So i.e. Those enlightened, liberated, Ācārya, Upādhyāya, monks and I (soul) are the same.

The souls, roaming in six directions and I (soul) are the same.

In this way, there is maximum cessation of karma by meditation on *So'aham*. This is the path of all detached.

Maṅgala Maitri

No sign traceable of hatred and Ill-will

In body, mind, vitality, spread of love & goodwill.

Awake! O people of world, black night gone.

At day break Religion shown as happiness of dawn.

All speak of Religion knowing it rarely.

Conduct with purity of mind is religion only.

Neither Hindu, Buddhist, nor Sikkha, Muslim, Jain is religion.

Religion is purity of mind, peace, pleasure and joy are religion.

No discrimination exists among human being where.

Benediction of all, pure religion flourishes there.

This is the religion's obligation, also its disposition.

Pure, pious and sacred becomes who bears one.

Communality is not religion; partition is not its creation.

Religion preaches unity, Religion teaches amity.

May god neither I am afflicted, nor any grieved in the world.

Life is art of living, this is the real religion.

The Concept of an Ideal Leader : As Depicted in Laghvarhanniti of Hemacandra

Rahul Kumar Singh

(The quality of a leader, especially of the Kings, ministers and their associates, has been explored from the very beginning of the Indian tradition. A number of works have dealt with the art of leadership. Prominent works regarding this are-Manusmṛti, Mahābhārata, Arthaśāstra, etc. belonging to Hindu tradition. Nītivākyaṃṛta, Laghvarhannīti, etc. belonging to Jain tradition, where the political ideas have been explored very minutely. The Laghvarhannīti describes thirty six qualities to be possessed by the leader, which are related with physical figure and ethical behaviour. In this regard he should also pursue the three goals of human life in harmony. The text provides specific rules and instructions regarding the leader's behaviour. With list of 'do's' for a leader there is also a list of 'dont's' which should be appreciated in the context of practices then prevalent. In this paper the author is presenting the Jain way of leadership in the context of Laghvarhannīti of Hemchandra.)

-Editor

The *Laghvarhannīti* is composed, in Sanskrit by Ācārya Hemacandra for the instruction of the Caulukya king Kumārapāla. Ācārya Hemacandra in *Laghvarhannīti* says that he composed his work on *Nīti* at the insistence of king Kumārpāla.¹ He claims to have relied on the ancient Śāstra called *Arhannīti* to which he refers occasionally and which he even quotes at places. From these references and quotations *Arhannīti* was a Prakrit text.² For Acārya Hemacandra, *Rājanīti* is held to be distinct from but connected with *Dharma* and *Vyavahāra* or *Vārtā*; which portrays his concept of welfare state. His treatment of *Rājanīti* may be broadly divided into two parts, a short one dealing with the principal constituents of the state, and a long one dealing with a number of state policies and practical aspects of governance.

According to Ācārya Hemacandra, the seven constituents (*Sapta Prakṛti*) of a state are:

1. The king (*rājā*),
2. Councillors, ministers and other key officials (*amātya* and *mantri*),
3. Territory of the state along with its citizens (*janapada*),
4. Fortified town and cities (*durga*),
5. Treasury (*kośa*),
6. Army (*sainya*) and
7. Allies (*mitra*).

He emphasized that sovereignty, administration, war and diplomacy constitute the principal aspects of political activity. The period of Ācārya Hemacandra was that of monarchy or oligarchy, hence the king was the pivot round which the whole state machinery revolved and personality of the king was the most important element in shaping the state.

In order to build a state, which fulfilled the conditions of a welfare state, that is to say, which accomplished the *yogakṣema* of its inhabitants,³ the king should be a leader with certain attributes.⁴ Ācārya Hemacandra describes the wise king or leader as follows, “A king, who wants his own welfare, should never derail from the path of *Nīti*”;⁵ one who:

- i. has self-control,
- ii. has conquered the inimical temptations of the senses,
- iii. has cultivated the intellect by association with elders,
- iv. always keeps his eyes open through spies,
- v. is ever vigilant in promoting the security and welfare of the people,
- vi. ensures the observance (by the people) of their *dharma* by authority and examples,

- vii. improves his own discipline by (continuing his) learning in all branches of knowledge,
- viii. endears himself to his people by enriching them and doing good to them.

Such a disciplined king should,

- a. keep himself away from another's wife,
- b. not take over another's property,
- c. practice *Ahiṃsā* (towards all living beings),
- d. avoid day-dreaming, capriciousness, falsehood and extravagance,
- e. avoid association with harmful persons, and
- f. avoid indulgence in harmful activities.

A person possessing these thirty six qualities only may be regarded as a king (a leader) in reality.⁶ Some of these refer to physical features. For example, the king must not be physically crippled or handicapped. He should have all the signs (*lakṣaṇa*) appropriate to the king and his physical aspect should be well formed. The significance of these remarks is two fold. It was an ancient rule that a person was not regarded to be fit for succession if he suffered from severe physical handicap, such as blindness etc. Similarly, it was an ancient belief that the universal emperors possessed certain distinctive physical marks. It was also a popular belief that in some ways one's destiny is writ large in one's physiognomy. In any case, even from a rational point of view, the possession of all faculties as well as of an impressive personality is an initial boost to one who would exercise sovereignty.

Physically well endowed, the king should be free from vanity. His personality should be effective, winning the appreciation of all. At the same time he should be compassionate by nature. He should be well educated in different arts as well as in science of peace and war. With perfect endowments of body and mind and with excellent education and training, he should also belong to a pure royal family. He should listen to the elders, love the people and delight in instructing them. He should possess the three powers of authority, council and morale. He

should pursue the three human values without access in any direction. His treasury should be full. He should himself be honest, well-informed through his spies, taking advice of wise council, industrious and indefatigable, just in his punishments and favours, acquiring sovereignty through proper means, magnanimous, victorious, devoted to justice and well-versed in its principles, eradicating the reasons leading to the perversion of the constituents of the state, energetic, and irrepressible, severe, god-fearing, ingenious, quickly appeared by submission and of a noble nature.⁷

Some of these qualities are personal and native, some depend on application and some relate to the manner in which the state is run. It is obviously an ideal description but it shows popular expectations.

Ācārya Hemacandra says that the three goals or objective of human endeavour, *Dharma*, *Artha* and *Kāma*, are interdependent and should be pursued in harmony.⁸ Over emphasis on anyone brings harm not only to that objective itself but to the others as well. There is no need for a king to deprive himself of all sensual pleasures and to lead a life of total austerity, so long as he does not infringe his *Dharma* or harm his own material well-being.

Ācārya Hemacandra not only depicts an ideal king or leader but also provides specific rules and instructions regarding his behaviour. At first he should learn self-control, the basis of knowledge and discipline. It is acquired by giving up lust, anger, greed, conceit, arrogance and foolhardiness. In this connection, he should avoid punishment without cause, addiction to music, dance and theatre, and excess sleeping in day time.⁹ He should also avoid hunting, gambling, prostitutes, indulgence in women except his own wife, wine, harsh speech and waste of money.¹⁰

These 'don'ts' should be appreciated in the context of the practices then prevalent. Wine, women and gambling were the specific vices to which aristocracy was prone from the days of the epics and are also duly mentioned in the *Kautilīya Arthaśāstra*. The inclusion of hunting, and old aristocratic pastime which finds praise in the

Sākuntala, shows a distinctive Jain proclivity. One would like to add that all these addictions, except hunting are not prerogatives of aristocracy or monarchy alone. Any ruling class distinguished by wealth and power trends to be attracted towards these addictions.

Hemacandra has also instructed about the persons to be saluted by king. A king or leader should not bow down to anyone except the gods, his teachers, the *Brāhmaṇas*, the elders of family and the ascetics.¹¹ This apparently was a kind of protocol which shows the superiority of the king over all others. He was expected to be lenient towards women, *Brāhmaṇas* and ascetics. Even if they commit a thousand faults, they should neither be mutilated nor killed. The maximum punishment for them should be expulsion out of country.¹²

Laghvarhannīti mentions that three major functions, a king is supposed to perform, are:

1. *Rakṣaṇa*- protection from external aggression,
2. *Pālana*- maintenance of law and order, and
3. *Yogaḥṣema*- safeguarding the welfare of the people.

The king should constantly think of the people and ensure that they are not being exploited by the officials. No one should be punished out of greed or anger or pride. Punishment should be strictly in proportion to one's fault. The king should work hard, the treasury should be kept full, the welfare of the country and the protection of the people should be accomplished by *Nīti*.¹³ The king has to protect his people not only from an outside enemy, but also from his own administrators. These two dangers are obvious and many political thinkers have mentioned. The guiding principle of the Ācārya Hemcandra's legal system may be summarised as follows:

Those who seek welfare should never abandon the path of *Nīti*. The king must remember that if he is unjust, he should suffer both in this world as well as hereafter.¹⁴

The king is repeatedly advised to avoid favouritism in the dispensation of justice. In certain matters the king must take direct interest without

relying on representatives. These are worship, the protection of the people and the providing of financial support to the needy.¹⁵ Acts of public munificence are important for the king. He should encourage learning, distribute free food, make provision for drinking water, rest houses, etc.¹⁶

In *Laghvarhannīti* Ācārya Hemacandra propagates the five principal duties of the king as follows:

Punishing the wicked, honouring the good, just collection of wealth, impartial administration and finally defending the country from enemies.¹⁷

For protection of his people the king is advised to secure the three powers (*triśakti*), four means (*catuṣka upāya*), and seven constituents (*sapt-aṅga or prakṛti*). These three parts (*vargatraya*) of the state need constant attention.¹⁸ Vision, motivation and mission (*prabhū, utsāha and mantra*) are the three powers. Conciliation (*sāma*), gift (*dāma*), force (*daṇḍa*) and causing dissension (*bheda*) are the four means. *Svāmi, pradhāna, mitra, kośa, rāṣṭra, durga* and *sainya* are the seven constituents, but some scholars count *prakṛti* as eighth.¹⁹

Even a leader, who is possessed of the above described characteristics and qualities, needs council and advice (*mantra*). Governance is possible only with assistance, as a single wheel does not move. Since governance is not possible for a single-handed king he should appoint ministers and listen to their advice. He should appoint officials and entrust to them the task in which they are efficient. The king, who is eager to the welfare of his people and good administration, shall have to identify and select councillors and ministers (*mantri*) very carefully, because they are both his eyes (sources of information) and hands (instruments of application). One being considered for appointment as a minister should be possessed of these qualities:

Belonging to a good family, well-versed in the scriptures including the six systems of philosophy, well-versed in *daṇḍaniti*, have high moral, have intellectual and practical qualities, be truthful, patient,

liberal, just and courageous, free from addictions, be a sound judge of persons and possess the gift of foresight, be a man of deep faith, be able to treat a guilty brother and an enemy alike and belongs to a family where such job was hereditary.²⁰

This implies that the post like ministers were generally hereditary. The existence of this practice from early days is evident both from epigraphs as well as from texts on polity. Although the advice to choose a hereditary minister was often followed, it never foreclosed the options of the ruler.

The minister is also advised to avoid acting with anger, greed, pride or vanity. He should always speak what is conducive to welfare. His decision should always be fair. His concern should be only the good of the people. After consulting properly, he should act in such a manner with reference to other constituents of the state as well as enemy states that the work of the sovereign is not impeded.²¹

Ācārya Hemacandra's sole attempt is to form a team which can serve the state more efficiently. The ministers, like the king, are for the state, i.e., inhabitants and they should not use the power over the people for their individual interest. His greatest emphasis has been on the king and the minister working in the interest of the people, not otherwise. Prajāhita is to be their sole criterion; public welfare and impartial justice are to be the second by the application of a wise, trained and virtuous mind.

Sovereignty is neither conceived as personal property or that of dynasty, nor as a game of power. It is not even conceived as the means of enjoyment of wealth and power. It is not also a matter of divine right nor necessary evil arising from anarchy. Sovereignty is conceived, herein from the standpoint of high moral idealism and a great faith in the efficacy of knowledge, training and virtue. The king and his higher officers are expected to follow wisdom and exercise self-control so that they may serve the general good. Here the whole effort of Ācārya Hemacandra is to build an institution which would facilitate the people to realise their own goals. The

state is not for the sake of leader as in Fascism, but it is an instrument to help people achieve the goal of human life (*puruṣārthas*).

The ruler is asked to be just and humane and to be devoted to the public good. He was to rely on learning and advice and seek consultation. No emphasis of any kind is placed on the personal aspect of the sovereignty. It is not something to be enjoyed by aggrandizement or exactions or lavish expenditure. It is primarily a matter of public duty, a form of moral life.

The above said duties of a ruler or leader (the king and the ministers), to protect and nourish the subject, imply something more than mere protection of persons and their property. It means successful accomplishment of an object and the peaceful and undisturbed enjoyment of that object, for well-being and welfare. Ācārya Hemacandra follows the Jain tradition but recognises existing social reality. His *Laghvarhannīti* is not addressed specifically to a Jain king. It presents what would have been generally acceptable in those days but temper it with the wisdom of Jain tradition.

The message of Ācārya Hemacandra, bereft of all external embellishments, can be summed up in a few words- 'develop character and self-control, be ceaselessly active, be fearless and endlessly strive to attain your objectives.' This is a message ageless in quality, inspiring both individuals and nations, a message which has come from the lips of great leaders, of all countries and climes, who have led their countrymen from darkness to light, slavery to freedom and from poverty to prosperity.

References :

1. *Kumārapālakṣmāpālāgrahaṇa pūrvanirmītāt/
Arhannītyabhīdāt Śāstrātsāramuddhṛtya kiñcana//6//
Bhūprajāhitārthaṃ hi śighrasmṛtividhāyakam/
Laghvarhannītisacchāstraṃ sukhobodhaṃ karomyaham//7//
--Laghvarhannīti, 1/6-7 quoted from *Laghvarhannīti*,
Translation (Hindi), Dr. Ashok Kumar Singh, National Mission
for Manuscripts, New Delhi and New Bharati Book Corporation,
New Delhi, 2013, P.2*

2. *Rogāureṇa diṇṇaṃ jaṃ dāṇaṃ mukkhadhammakajjassa/
Tassa ya maraṇe vi suo juggocciyaṃ taṃ dhaṇaṃ dāuṃ//3.4.9//
Kisivāṇijjapasūhiṃ jaṃ lāho havai tassa dasamaṃssaṃ dāve nivo
bhiccaṃ aṇicchie vejjāṇe tassa//1/-3.7.18
Hāṇi nahu suvaṇeamie paladuggaṃ bhava rayae/
Taṃvassa pañca lohe dasa sīse aṭṭhayaṇṇasayagaṃ//1//3.8.9
Hiyavāissaya vayaṇaṃ jo nahu maṇai tiduvitavyūhe so hoi
daṇḍaṇijjopaḍhamadameṇaṃ khu ṇiccampi//1/-3.8.9
--*Laghvarhanniti* Vṛtti, 3/4/9, 3/7/18, 3/8/9, 3/13/7; quoted from
Laghvarhanniti, op.cit., P. xxii*
3. *Dharmārthakāmān sandadhyā anyo 'nyamavirodhitān/
Pālayasva prajāḥ sarvāḥ smṛtvā smṛtvā kṣaṇe kṣaṇe//39//
Śaktitrikamupāyānāṃ catuṣkaṃ cāṅgasaptakam/
Vargatrayaṃ sadaitāni rakṣaṇiyāni yatnataḥ//54//
--*Laghvarhanniti*, op. cit., 1/39, 54, P.7,9*
4. Tatrādāvupayogitvānṛpāṇāṃ mantriṇāṃ guṇāḥ/
Prakāśya ca tathā teṣāmeva śikṣāśca kāścana//24//
--*Ibid*, 1/24, P.4
5. Kadāpi na hi moktavyo nītimārgo hitecchubhiḥ/
Syānnyāyavarjito bhūpa ihāmutra ca duḥkhabhāk//43//
--*Ibid*, 1/43, P.7
6. Avyaṅgo-1 lakṣaṇaiḥ pūrṇaḥ-2 rūpasampattibhṛttanuḥ-3/
Amado-4 jagadojasvī-5 yaśasvī-6 ca kṛpāparaḥ-7//25//
Kalāsu kṛtakarmā ca-8 śudharājakulodbhavaḥ-9/
Vṛddhānugastrīśaktiśca-10-11 prajāragī-12 prajāguruḥ-13//26//
Samarthanaḥ pumarthānāṃ trayāṇāṃ samamātrayā-14/
Kośavān-15 satyasandhaśca-16 caradr̥ga-17 dūramantradṛk-18//27//
Āsiddhikarmodyogī-19 ca pravīṇaḥ śastraśāstrayoh-20/
Nigrahānugrahaparo-21 nirlaṅco-22 duṣṭśiṣṭayoh-23//28//
Upāyārjitarājyaśrī-24 dānaśilo-25 dhruvañjayī-26/
Nyāyapriyo-27 nyāyavettā-28 vyasanānāṃ vyapāśakaḥ-29//29//
Avāryaviryō-30 gāmbhīryaudāryacāturyabhūṣitaḥ-31-32-33/
Prajñāmāvadhikakrodaḥ-34 sātvikastātviko-35-36 nṛpaḥ//30//
--*Ibid*, 1/25-30, P.4-5
7. --*Ibid*, 1/25-30, P.4-5
8. *Dharmārthakāmān sandadhyā anyo 'nyamavirodhitān/
Pālayasva prajāḥ sarvāḥ smṛtvā smṛtvā kṣaṇe kṣaṇe//39//
--*Ibid*, 1/39, P.7*
9. Vṛthārthadaṇḍaparūṣyaṃ vādyam gītaṃ tathādhikam/
Nṛtyāvalokanaṃ bhūyo divā nidrāṃ ca satatam//47//
--*Ibid*, 1/47, P.8

10. Varjayanmrgayāṃ dyūtaṃ veśyāṃ dāsīm parastriyaḥ/
Surāṃ vacanapāruṣyaṃ tathā caivārthadūṣaṇam//46//
--Ibid, 1/46, P.8
11. Devān gurūn dvijāṃścaiva kulajyeṣṭhāṃśca liṅgināḥ/
Vihāya bhavatānyeṣāṃ na vidheyā namaskṛtiḥ//31//
--Ibid, 1/31, P.5
12. Aparādhasahastre 'pi yoṣiddvijatapasvinām/
Navadho nāṅgavicchedastesāṃ kāryāḥ pravāsanam//37//
--Ibid, 1/37, P.6
13. *Dharmārthakāmān sandadhyā anyo 'nyamavirodhitān/
Pālayasva prajāḥ sarvāḥ smṛtvā smṛtvā kṣaṇe kṣaṇe//39//*
Mantribhiḥ sevakaisca pīḍyamānāḥ prajāḥ nṛpa/
kṣaṇe kṣaṇe pālaythāḥ pramādaṃ tatra mācara//40//
Daṇḍyā na lobhataḥ kecinna krodhānābhimānataḥ/
Doṣānusārīdaṇḍaśca vidheyāḥ sarvadā tvayā//41//
Hitvālyasyaṃ sadā kāryaṃ nītyā koṣasya varddhanam/
Prajāyāḥ pālanam nītyā nītyā rāṣṭrahitam punaḥ//42//
--Ibid, 1/39-42, P.7
14. Kadāpi na hi moktavyo nītimārgo hitecchubhiḥ/
Syānnyāyavarjito bhūpa ihāmutra ca duḥkhabhāk//43//
--Ibid, 1/43, P.7
15. Na pakṣapāto nodvegastvayā kāryāḥ kadācana/
Strīṅām śrīṅām vipakṣāṅām nicānām rasitāgasām//49//
Mūrkhāṅām caiva laghvānām mā viśvāsaṃ kṛthāḥ kvacit/
Devagurvārādhane ca svaprajānām ca pālāne//50//
--Ibid, 1/49-50, P.8
16. Etadvayaṃ nigaditaṃ budhairuttamalakṣaṇam/
Śāstrairdānaiḥ prapābhoyaiḥ prāsādaiśca jalāśayaiḥ//52//
--Ibid, 1/52, P.8
17. Duṣṭadaṇḍāḥ sujanasya pūjā nyāyena koṣasya ca sampravṛddhiḥ/
Apakṣapāto ripurāṣṭrarakṣā pañcaiva yajñāḥ kathitānṛpāṅām//44//
--Ibid, 1/44, P.7
18. *Śaktitrikamupāyānām catuṣkaṃ cāṅgasaptakam/
Vargatrayaṃ sadaitāni rakṣaṇīyāni yatnataḥ//54//*
--Ibid, 1/54, P.9
19. Tatra prabhūtsāhamantrāḥ śaktayaḥ samudāhṛtāḥ/
Upāyāḥ sāmādāmau ca daṇḍabhedāviti kramāt//55//
Svāmyamātyasuhṛtkośarāṣṭradurgabalāni ca/
Saptāṅgī nītirajasya prakṛtīścāṣṭamā kvacit//56//
--Ibid, 1/55-56, P.9
20. Kulīnāḥ kuśalo dhīro dātā satyasamāśritāḥ/
Nyāyāikaniṣṭho medhāvī śūrah śāstravīcakṣaṇaḥ//61//

Sarvavyasananirmukto daṇḍanīti viśāradah/
Puruṣāntaravijñātā satyāsatyaparākramah//62//
Kṛtāparādhasaudarye śatrāvapi samāśayah/
Dharmakarmarato nityamanāgatavimarśakah//63//
Atyāstikyādimaṭṭiṣu catasṣvapi baddhadhīh/
Bhaktah ṣaḍdarśaneṣveva gurudevādyupāsakah//64//
Nityamācāranirataḥ pāpakarmaparāṇmukhaḥ/
Sadā vicārayennyāyaṃ kṣīraniravivecanam//65//
Kulakramāgatam mātram nṛpayogyamudirayan/
Idṛśah puruṣo mantrī jāyate rājyavṛddhikṛt//66//

--Ibid, 1/61-66, P.10

21. Krodhāllobhāttathotsekāddarpādapathivartanam/
Varjanīyaṃ sadāmātyairvācyam nityam yathāhitam//67//
Vyavahāre na kasyāpi pakṣah kāryastvayā/
Nṛprajāhitaikaṇiṣṭhatvaṃ dhāraṇīyaṃ nirantaram//68//
Parāmarśam vidhāyoccaiḥ rājyāṅgeṣu ca vairiṣu/
Tathā kāryam yathā svāmikārye hānirna jāyate//69//

--Ibid, 1/67-69, P.11

समाचार

श्रीमति शकुन्तला जैन को कुन्द-कुन्द भारती सम्मान -

परमपूज्य श्री विद्यानन्द मुनि जी महाराज की ९०वीं जयन्ती के पावन अवसर पर कुन्द-कुन्द भारती द्वारा आयोजित पुरस्कार समारोह में श्रीमति शकुन्तला जैन, जयपुर को पुरस्कृत किया गया। समारोह में उनको प्रशस्ति पत्र, शाल, माला एक लाख रुपये की सम्मान राशि ओम कोठारी समूह, नई दिल्ली द्वारा प्रदान की गयी। इस समारोह में सम्मानित होने वाले अन्य विद्वान हैं- श्री रविन्द्र जैन, मुम्बई, शानिप्रभा जैन, दिल्ली, डॉ० रमेन्द्र जैन, विजनौर।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में साधुआवास का जीर्णोद्धार सम्पन्न-

पार्श्वनाथ विद्यापीठ स्थित साधु आवास का जीर्णोद्धार मुनि श्री प्रशमरति विजय जी म.सा. की प्रेरणा से सम्पन्न हुआ। इसका अनावरण २९-०५-२०१४ को प्रसिद्ध उद्योगपति श्री धनपतराज भंसाली के करकमलों द्वारा किया गया। इस कार्यक्रम के साथ 'काशी का वैशिष्ट्य' विषय पर संवाद प्रतियोगिता का भी आयोजन किया गया। इस अवसर पर संस्थान के प्रबन्ध समिति के पदाधिकारी श्री सुदेव बरड़, कुँवर विजयानन्द सिंह, श्री सतीश जैन एवं बनारस के जैन समाज के गणमान्य जन उपस्थित थे।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के आगामी प्रकाशन -

१. अनेकान्तवाद प्रवेश, संस्कृत, हरिभद्र सूरि -

प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य हरिभद्र द्वारा प्रमुख जैन सिद्धान्त अनेकान्तवाद को सुग्राह्य बनाने हेतु स्व रचित अनेकान्तजयपताका के प्रकरण ग्रन्थ के रूप में सृष्ट हुआ है। गद्य-पद्य मिश्रित संस्कृत में रचे गये इस ग्रन्थ में गद्य के साथ अड़तीस श्लोक हैं।

इस ग्रन्थ में आचार्य ने पाँच पूर्वपक्षों के माध्यम से दर्शन की प्रमुख पाँच समस्याओं, जिसको लेकर दर्शन के प्रायः सभी सम्प्रदाय वाद-प्रतिवाद करते हैं, को स्पष्ट किया है। ये समस्याएँ हैं- वस्तु सत् है या असत्? नित्य है या अनित्य? सामान्य है या विशेष? अभिलाष्य है या अनभिलाष्य? एवं मोक्ष का स्वरूप क्या है? संपूर्ण ग्रन्थ इन्हीं समस्याओं के सन्दर्भ में जैन मत का तार्किक प्रस्तुतीकरण है।

आचार्य द्वारा अपनी कृति अनेकान्तजयपताका पर लगे आक्षेपों के निराकरण हेतु तथा अनेकान्तवाद में प्रवेश हेतु रचित इस ग्रन्थ में अनेकान्तजयपताका की विषयवस्तु का ही क्रमबद्ध विभाजन एवं विश्लेषण हुआ है।

यह ग्रन्थ सटिप्पणक संशोधित रूप में मुद्रित है। यद्यपि टिप्पणक-कर्ता का परिचय अप्राप्त है। इस ग्रन्थ की उपलब्ध प्रति श्री नीतिविजय महाराज समुपदिष्ट एवं भोगीलाल लहेरचन्द द्वारा वि० स० १९७६ (१९१९ ई०) में पाटण से प्रकाशित है।

अप्रतिम जैन सिद्धान्त अनेकान्तवाद पर अनेक विद्वानों के शोधालेख प्राप्त होते हैं तथा उनके संदर्भ-सूची में अनेकान्तवादप्रवेश एवं अनेकान्तजयपताका का उल्लेख यत्र-तत्र ही प्राप्त होता है। इन दोनों ग्रन्थों का भाषान्तर न होने से इनका उपयोग विद्वानों द्वारा सम्यक् रूप से नहीं किया जा सका। इस तरह विद्यार्थियों एवं अध्येताओं द्वारा मूलग्रन्थों के अनुदित संस्करण की अपेक्षा की जाती है। परन्तु अभी तक अनेकान्तवादप्रवेश का कोई हिन्दी या अंग्रेजी अनुवाद संज्ञान में नहीं आने के कारण पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने इस ग्रन्थ के हिन्दी एवं अंग्रेजी अनुवाद को प्रकाशित करने की योजना बनायी है। इस ग्रन्थ का हिन्दी एवं अंग्रेजी अनुवाद रिसर्च एसोसिएट डॉ० राहुल कुमार सिंह द्वारा किया जा रहा है, अनुवाद का आधार ऊपर उल्लिखित प्रति को बनाया गया है।

इस ग्रन्थ के अनुवाद का प्रारूप निम्नवत् होगा -

मूल (संस्कृत), रोमन ट्रांसलिटरेशन, हिन्दी अनुवाद, अंग्रेजी अनुवाद और ग्रन्थ के अन्त में प्रमुख पारिभाषिक शब्दावली, शब्दानुक्रमणिका व श्लोकानुक्रमणिका।

२. ध्यानशतक, प्राकृत, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण -

आगमों पर प्राकृत भाष्य रचयिता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (लगभग छठीं शती ई.) द्वारा विरचित प्राकृत कृति ज्ञाणज्ज्ञयण (ध्यानाध्ययन) जैन परम्परा में ध्यान विषय की प्राचीनतम एवं प्रथम स्वतन्त्र कृति मानी जाती है। इसे हरिभद्र ने ध्यानशतक नाम प्रदान किया है और यह इसी नाम से अधिक प्रचलित है। इसमें १०६ गाथायें हैं। ध्यान-सामान्य का लक्षण, ध्यान-काल, स्वामी प्रकार एवं ध्यान फल निरूपण से ग्रन्थ का आरम्भ किया गया है। ध्यान के चार प्रकारों - आर्त, रौद्र, धर्म एवं शुक्ल ध्यान का स्वरूप एवं उपभेद, स्वामी-निर्देश, चारों ध्यानों में सम्भव लेश्याओं का निर्देश है। आर्त ध्यान संसार का कारण क्यों है? जीव के संसार परिश्रमण का कारण, आर्त और रौद्र ध्यान के लिङ्ग, धर्मध्यान की प्ररूपणा में द्वारों का निर्देश, धर्मध्यान में उपयोगी चार भावनाओं का स्वरूप, धर्मध्यान के योग्य देश, काल, आसन एवं आलम्बन, ध्येय के चार भेदों का स्वरूप, धर्म ध्यान-ध्याता, धर्म ध्यान के समाप्त होने पर चिन्तनीय अनित्यादि भावनाओं का निर्देश, धर्म एवं शुक्ल ध्यान के क्रम का निरूपण, शुक्ल ध्यान का आलम्बन, ध्याता एवं उसके प्रकारों का निरूपण, उपभेदों के स्वामियों का निर्देश, शुक्लध्यान की परिसमाप्ति पर ध्यातव्य चार अनुप्रेक्षाओं का निर्देश, धर्मध्यान और शुक्लध्यान के फल का निरूपण किया गया है।

अन्त में मोक्ष सुख का स्वरूप, ध्यान मोक्ष का हेतु है इसका अनेक दृष्टान्तों द्वारा स्पष्टीकरण और ध्यान के सांसारिक फल का निर्देश किया गया है।

इस महत्वपूर्ण कृति की आलोचनात्मक प्रस्तावना, हिन्दी अनुवाद, हरिभद्र वृत्ति एवं विविध परिशिष्टों सहित बीर सेवा मन्दिर दिल्ली द्वारा प्रकाशन (१९७६) किया गया है। इसका सम्पादन पं० बाल चन्द्र सिद्धान्त शास्त्री ने किया है। हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या सहित इसका प्रकाशन प्राकृत भारती अकादमी जयपुर द्वारा (२००७ में) किया गया है। सम्पादन एवं व्याख्या श्री कन्हैयालाल लोढ़ा एवं डा० सुषमा सिंघवी ने किया है।

जैन योग के सात ग्रन्थ में भी मु० दुलहराज द्वारा कृत हिन्दी अनुवाद सहित यह प्रकाशित है।

परन्तु इसका अंग्रेजी अनुवाद उपलब्ध नहीं था अतः संस्कृतच्छाया, रोमन ट्रांसलिटरेशन, अंग्रेजी अनुवाद, व्याकरणात्मक विश्लेषण, शब्दार्थ एवं शब्दानुक्रमणिका सहित इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने की पार्श्वनाथ विद्यापीठ की योजना है। यह ग्रन्थ शीघ्र ही प्रकाशित किया जा रहा है।

३. रत्नकरण्डश्रावकाचार, संस्कृत, समन्तभद्र -

रत्नकरण्ड श्रावकाचार चौथी शताब्दी के जैन आचार्य स्वामी समन्तभद्र द्वारा संस्कृत भाषा में रचित आचारशास्त्रीय ग्रन्थ है। सम्पूर्ण जैन आचार दो भागों में विभाजित है- श्रावकाचार और श्रमणाचार। जब एक व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक उन्नति एवं साधना के लिए सांसारिक बन्धनों से मुक्ति हेतु अणुव्रतों का सन्धान करता हुआ श्रमण आचार की ओर उन्मुख होने का प्रयत्न करता है तब वह सही अर्थों में श्रावक होता है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में १५० गाथाएँ हैं। इसमें सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र-इन तीनों को धर्म कहकर सम्यक् चारित्र के अन्तर्गत श्रावकाचार का निरूपण किया है। इस ग्रन्थ में सात अधिकार हैं- १. सम्यग्दर्शनाधिकार २. सम्यग्ज्ञानाधिकार ३. अणुव्रताधिकार ४. गुणव्रताधिकार ५. शिक्षाव्रताधिकार, ६. सल्लेखनाधिकार और ७. प्रतिमाधिकार।

प्रथम अधिकार में सम्यक् दर्शन का लक्षण, आप्त, आगम एवं गुरु का लक्षण तथा सम्यक् दर्शन के आठ अंगों का वर्णन है। द्वितीय अधिकार में सम्यक् ज्ञान का लक्षण, द्रव्यश्रुत के चार भेदों प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग के लक्षण दिये गये हैं। तृतीय अधिकार में सम्यक् चारित्र के लक्षण, भेद तथा स्वामियों के वर्णन के बाद पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों के लक्षण, अतिचार एवं फल का वर्णन है। चतुर्थ अधिकार में दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिभाषण व्रत-इन तीनों गुणव्रतों का स्वरूप, अतिचार एवं फल का वर्णन किया गया है। पंचम अधिकार में देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य-इन चार शिक्षाव्रतों के लक्षण, फल तथा अतिचार का वर्णन

है। षष्ठ अधिकार में सल्लेखना का लक्षण, धारण करने की विधि, निःश्रेयस और अभ्युदय रूप फल तथा उसके अतिचारों का निरूपण है। ग्रन्थ के अन्तिम एवं सातवें अधिकार में ग्यारह प्रतिमाओं के लक्षण के साथ रत्नकरण्ड की आराधना के फल का वर्णन किया गया है।

इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का अन्वयार्थ सहित हिन्दी अनुवाद स्थाद्वादमती माता जी द्वारा परमपूज्य भरतसागर जी के सम्पादन में भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् द्वारा प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त आचार्य प्रभाचन्द्र रचित संस्कृत टीका का साहित्याचार्य पं० पन्नालाल जी द्वारा अन्वयार्थ सहित हिन्दी अनुवाद वीतराग वाणी ट्रस्ट, टीकमगढ़, म० प्र० से, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट एटा से एवं श्री मुनि संघ साहित्य प्रकाशन समिति सागर से प्रकाशित है। श्री चम्पत राय जैन द्वारा अंग्रेजी में अनुदित इस ग्रन्थ को बाल ब्रह्मचारी हेमचन्द्र जैन 'हेम' द्वारा सम्पादित कर पूज्य श्री कांजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट, नासिक द्वारा प्रकाशित किया गया है। परन्तु अभी तक हिन्दी व अंग्रेजी अनुवाद (रोमन ट्रांसलिटरेशन सहित) एक साथ उपलब्ध नहीं है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने इस ग्रन्थ का हिन्दी व अंग्रेजी अनुवाद, रोमन ट्रांसलिटरेशन सहित प्रकाशित करने की योजना बनायी है यह कार्य संस्थान के रिसर्च एसोसिएट डॉ० श्रीनेत्र पाण्डेय द्वारा किया जा रहा है। इसका प्रारूप निम्नवत् है-

मूल संस्कृत, रोमन ट्रांसलिटरेशन, अन्वयार्थ, हिन्दी अनुवाद, अंग्रेजी अनुवाद और ग्रन्थ के अन्त में प्रमुख पारिभाषिक शब्दावली, शब्दानुक्रमणिका व श्लोकानुक्रमणिका ।

प्रकाशन-सूची

२०१४-१५

१. जैन धर्म के आगमिक ग्रन्थ एवं व्याख्या:

१. आचाराङ्गसूत्र : एक अध्ययन - (ग्रं०मा०सं० ३७); लेखक : डॉ० परमेष्ठीदास जैन; प्रथम संस्करण १९८७; पृष्ठ : २९, १७७; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १५०.००।
२. दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति : एक अध्ययन (मूल, संस्कृतच्छाया, हिन्दी अनुवाद सहित) - (ग्रं०मा०सं० १०१) (I.S.B.N. 81-86715-26-६); अनुवादक : डॉ० अशोक कुमार सिंह; प्रथम संस्करण १९९८; पृष्ठ : २३०; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १२५.००।
३. उत्तराध्ययनसूत्र: एक परिशीलन (गुजराती) - (ग्रं०मा०सं० १३५)(I.S.B.N. 81-86715-64-9); लेखक : डॉ० सुदर्शनलाल जैन; अनुवादक : प्रो० अरुण शान्तिलाल जोशी; प्रथम संस्करण २००१; पृष्ठ : १६, ५३२; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० ३००.०० ।
४. उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन (हिन्दी) - (ग्रं०मा०सं० १७३) (I.S.B.N. 978-93-81571-10-1); लेखक : डॉ० सुदर्शनलाल जैन; द्वितीय संस्करण २०१२; पृष्ठ : १६, ५३२; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० ६००.००।
५. ऋषिभाषित का दार्शनिक अध्ययन -साध्वी डा० प्रमोद कुवर; प्रथम संस्करण २००९; पृष्ठ : १८८; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० ९०.००।
6. KṢĀYAPĀHUḌA (Chapters on Passion)- English translation by Dr. N. L. Jain; First Edition 2006; Pages. xii, 342; Size-Demy; Hard Bound, Price Rs. 300.00.

२. धर्म एवं दर्शन:

१. जीवन दर्शन - (ग्रं०मा०सं० ९); लेखक : गोपीचन्द्र धाडीवाल; प्रथम संस्करण १९६७; पृष्ठ : ९, ९८; आकार : क्राउन; अजिल्द, मूल्य : रु० ३०.००।

२. आत्ममीमांसा - (ग्रं०मा०सं० १०); लेखक : पं० दलसुख मालवणिया; प्रथम संस्करण १९५३; पृष्ठ : ६, १५२; आकार : क्राउन; अजिल्द, मूल्य : रु० ७५.००।
३. स्वाध्याय - (ग्रं०मा०सं० १४, लघु); लेखक : महात्मा भगवानदीन; प्रथम संस्करण १९५७; पृष्ठ : ८, १९२; आकार : क्राउन; सजिल्द, मूल्य : रु० ६०.००।
४. जैन धर्म-दर्शन - (ग्रं०मा०सं० १९); लेखक : डॉ० मोहनलाल मेहता; प्रथम संस्करण १९९९; पृष्ठ : ११+६०५; आकार : क्राउन; सजिल्द, मूल्य : रु० २००.००।
५. तत्त्वार्थसूत्र (विवेचन सहित) - (ग्रं०मा०सं० २२); उमास्वाति; विवेचक : पं० सुखलाल संघवी : डॉ० मोहनलाल मेहता व श्री जमनालाल जैन; पंचम संस्करण २००१; पृष्ठ : २६, १३७, २७८; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १५०.००।
६. आनन्दधन का रहस्यवाद - (ग्रं०मा०सं० २८); लेखिका : साध्वी श्री सुदर्शना श्री जी; प्रथम संस्करण १९८३; पृष्ठ : ३४२, १६; आकार : डिमाई; सजिल्द / अजिल्द, मूल्य : रु० १००.००।
७. जैन दर्शन में आत्म विचार - (ग्रं०मा०सं० ३१); लेखक : डॉ० लालचन्द जैन; प्रथम संस्करण १९८४; पृष्ठ : ८, ३१८, ४; आकार : डिमाई; सजिल्द/अजिल्द, मूल्य : रु० १००.००।
८. धर्म का मर्म - (ग्रं०मा०सं० ३६); लेखक : प्रो० सागरमल जैन; द्वितीय संस्करण १९८४; पृष्ठ ७, ५१; आकार : डबल क्राउन; अजिल्द, मूल्य : रु० ४०.००।
९. स्याद्धाद और सप्तभंगीनय (आधुनिक व्याख्या) - (ग्रं०मा०सं० ४७); लेखक : डॉ० भिखारीराम यादव; प्रथम संस्करण १९८९; पृष्ठ : ४४, २३०; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १४०.००।
१०. अनेकान्तवाद, स्याद्धाद और सप्तभंगी : सिद्धान्त और व्यवहार - (ग्रं०मा०सं० ५२); लेखक : प्रो० सागरमल जैन; प्रथम संस्करण १९९९; पृष्ठ ४३; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० ३०.००।
११. जैन कर्म सिद्धान्त का उद्भव और विकास - (ग्रं०मा०सं० ६५); लेखक : डॉ० रवीन्द्रनाथ मिश्र; प्रथम संस्करण १९९३; पृष्ठ : ११, २४८; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० २००.००।

१२. तत्त्वार्थसूत्र और उसकी परम्परा - (ग्रं०मा०सं० ६७); लेखक : प्रो० सागरमल जैन; प्रथम संस्करण १९९४; पृष्ठ : १४७; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० ६०.००।
१३. जैन धर्म दर्शन एवं संस्कृति (भाग १) (लेखों का संग्रह)- (ग्रं०मा०सं० ७०); लेखक : प्रो० सागरमल जैन; प्रथम संस्करण १९९४; पृष्ठ : ३२, २६४; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १५०.००।
१४. जैन धर्म दर्शन एवं संस्कृति (भाग २) (लेखों का संग्रह)- (ग्रं०मा०सं० ७८); लेखक : प्रो० सागरमल जैन; प्रथम संस्करण १९९५; पृष्ठ : १७६; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १५०.००।
१५. बौद्ध प्रमाणमीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा - (ग्रं०मा०सं० ८१); लेखक : डॉ० धर्मचन्द जैन; प्रथम संस्करण १९९५; पृष्ठ : १२, ४३९; आकार : डिमाई; सजिल्द/अजिल्द, मूल्य : रु० ३५०.००।
१६. अनेकान्तवाद और पाश्चात्य व्यावहारिकतावाद - (ग्रं०मा०सं० ८५); लेखक : डॉ० राजेन्द्र कुमार सिंह; प्रथम संस्करण १९९६; पृष्ठ : १५९, आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १५०.००।
१७. जैन धर्म दर्शन एवं संस्कृति, (भाग ३) (लेखों का संग्रह)- (ग्रं०मा०सं० ८८); लेखक : प्रो० सागरमल जैन; प्रथम संस्करण १९९७; पृष्ठ : ६, २१९; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १५०.००।
१८. जैनधर्म में निश्चय और व्यवहार नय : एक अनुशीलन - (ग्रं०मा०सं० ९७) (I.S.B.N. 81-86715-25-8); लेखक : डॉ० रतनचन्द्र जैन; प्रथम संस्करण १९९७; पृष्ठ : २६, २५९; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० २००.०० तथा सजिल्द, मूल्य : रु० २५०.००।
१९. जीवसमास - (ग्रं०मा०सं० ९९) (I.S.B.N. 81-86715-36-3); अनुवादिका : साध्वी विद्युतप्रभाश्री; प्रथम संस्करण १९९८; पृष्ठ : ४१, २४४; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० १६०.००।
२०. पञ्चाध्यायी में प्रतिपादित जैन दर्शन - (ग्रं०मा०सं० १०८) (I.S.B.N. 81-86715-30-4); लेखिका : डॉ० मनोरमा जैन; प्रथम संस्करण १९९८; पृष्ठ : २३४; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १२५.००।
२१. जैन धर्म दर्शन एवं संस्कृति, (भाग ४) (लेखों का संग्रह)- (ग्रं०मा०सं० १२२)(I.S.B.N. 81-86715-46-0); लेखक : प्रो०

- सागरमल जैन; प्रथम संस्करण २००१; पृष्ठ : ६, १७५; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १००.००।
२२. जैन दर्शन में नवतत्त्व - (ग्रं०मा०सं० १३४) (I.S.B.N. 81-86715-62-0); लेखिका : साध्वी डॉ० धर्मशीला, प्रथम संस्करण २०००; पृष्ठ : २४, ४४४; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य: रु० ४००.००।
२३. मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर जैन दर्शन का प्रभाव - (ग्रं०मा०सं० १५०) (I.S.B.N. 81-86715-85-1); लेखक : डा० वी. रमेश गाडिया; प्रथम संस्करण २००७; पृष्ठ : ५८८; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० ५००.००।
२४. जैन अध्यात्मवाद - (ग्रं०मा०सं० १५३) (I.S.B.N. 81-86715-88-6); लेखक : डॉ० श्याम किशोर सिंह; प्रथम संस्करण २००७; पृष्ठ : १६२; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १५०.०० ।
२५. कर्म ग्रन्थ, (भाग १-३) - (ग्रं०मा०सं० १५६) (I.S.B.N. 81-86715-91-6); लेखक : पं सुखलाल संघवी; द्वितीय संस्करण २००९; पृष्ठ : २७४; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० ४००.००।
२६. जैन धर्म दर्शन एवं संस्कृति, (भाग ७) (लेखों का संग्रह) - (ग्रं०मा०सं० १५८) (I.S.B.N. 81-86715-93-2); लेखक : प्रो० सागरमल जैन; प्रथम संस्करण २००२; पृष्ठ : ६, १९०; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० २००.००।
२७. जैन दर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था- (ग्रं०मा०सं० १५९)(I.S.B.N. 81-86715-94-0); लेखक : डा० श्वेता जैन; प्रथम संस्करण २००९; पृष्ठ : ६५६; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० ६००.००।
२८. कर्म ग्रन्थ, भाग ४ -(ग्रं०मा०सं० १६०)(I.S.B.N. 81-86715-95-9); लेखक : पं सुखलाल संघवी; द्वितीय संस्करण २००९; पृष्ठ : २३६; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० ४००.००।
२९. वेदान्त परिभाषा पर न्याय दर्शन के प्रभाव की समीक्षात्मक परीक्षा - (ग्रं०मा०सं० १६४) (I.S.B.N. 81-86715-98-3); लेखक : डा० रामकुमार गुप्त; प्रथम संस्करण २००९; पृष्ठ : १८८; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० ३००.००।

74 : श्रमण, वर्ष 65, अंक 2/अप्रैल-जून 2014

३०. जैन दर्शन में धर्म का स्वहूप - (ग्रं०मा०सं० १६६) (I.S.B.N. 81-86715-63-0); लेखक : डॉ० के० के० सिंह; प्रथम संस्करण २०१०; पृष्ठ : २४८; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० ३००.००।
३१. कर्म ग्रन्थ, भाग ५- (ग्रं०मा०सं० १६७) (I.S.B.N. 81-86715-83-5); लेखक : पं सुखलाल संघवी; द्वितीय संस्करण २०११; पृष्ठ : २५६; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : ४००.०० रु०।
३२. न्याय-रत्नसार - रचयिता : आचार्यप्रवर घासीलाल जी; प्रथम संस्करण १९८९; पृष्ठ : ४०, १९८; आकार : डबल क्राउन; सजिल्द, मूल्य : रु० २००.००।
३३. जैन धर्म दर्शन एवं संस्कृति, भाग ५, (लेखों का संग्रह)- (I.S.B.N. 81-86715-68-1); लेखक : प्रो० सागरमल जैन; प्रथम संस्करण २००२; पृष्ठ : ६+१९०; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १००.००।
३४. जैन धर्म दर्शन एवं संस्कृति, भाग ६, (लेखों का संग्रह)- (I.S.B.N. 81-86715-84-3); लेखक : प्रो० सागरमल जैन; प्रथम संस्करण २००२; पृष्ठ : ६, १९०; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १००.००।
३५. सर्वसिद्धान्तप्रवेशकः - अनुवाद : साध्वी रुचिदर्शनाश्रीजी, प्रथम संस्करण २००८; पृष्ठ : ३५, आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० ३०.००।
36. JAINA PHILOSOPHY - (S.N. 16); by *Mohan Lal Mehta*; 2nd Edition 1998; Pages 246; Size: Demy; Hard Bound, Price Rs.160.00.
37. JAINA EPISTEMOLOGY- (S.N. 50) (I.S.B.N 81-86715-13-4); by *Dr. Indra Chandra Shastri*; 1st Edition 1990; pp. 15, 490, Size: Demy; Paper back, Price Rs. 350.00.
38. THEORY OF REALITY IN JAINA PHILOSOPHY- (S.N. 58) (I.S.B.N. 81-86715- 01-0); by *Dr. J. C. Sikdar*, 1st Edition 1991; Pages 20, 344; Size: Demy; Paper back, Price Rs. 300.00.
39. DOCTRINE OF KARMAN IN JAINA PHILOSOPHY - (S.N. 60) (I.S.B.N. 81-86715-00-2); *Dr. H.V. Glasenapp. trans. (Germ. to Eng) Mr. G. Barry Giffor*, 1st Edition 1942; Pages 26, 284; Size: Demy; Paper back, Price Rs. 150.00.

40. **JAINA PERSPECTIVE IN PHILOSOPHY AND RELIGION** - (S.N. 64) (I.S.B.N. 81-7054-4); by *Dr. Ramjee Singh*; 1st Edition 1993; Pages 272; Size: Demy; Paper back, Price Rs. 200.00.
41. **JAINA LITERATURE AND PHILOSOPHY: A Critical Approach** -(I.S.B.N. 81- 86715-28-2); by *Prof. Sagarmal Jain*; First Edition 1999; Pages 41, 118; Size: Double Demy; Paper back, Price Rs. 200.00.
42. **JAINA KARMOLOGY** - (S.N. 109) (I.S.B.N. 81-86715-31-2); by *Dr N. L. Jain*; 1st Edition 1998; Pages 180; Size: Demy; Hard Bound, Prize Rs. 150. 00 and Paper back, Price Rs. 100.
43. **JAINISM IN A GLOBAL PERSPECTIVE** - (S.N. 113) (I.S.B.N. 81- 86715-37-1), Edited by *Prof. Sagarmal Jain & Dr. S. P. Pandey*, 1st Edition 1998; Pages 383; Size: Demy; Hard Bound, Price Rs. 400.00. \$ 19.00.
44. **MULTI-DIMENSIONAL APPLICATION OF ANEKĀNTAVĀDA** -. (S.N. 117) (I.S.B.N. 81-86715-31-2); Edited by *Dr. S.M. Jain & Dr.S.P. Panday*; 1st Edition 1999; Pages 533; Size: Demy; Hard Bound, Price Rs. 500.00, \$ 20.00.
45. **THE JAIN WORLD OF NON-LIVING** - (S.N. 117) (I.S.B.N. 81-86715-41-X); by *Dr. N.L. Jain*; 1st Edition 2000; Pages 310; Size: Demy; Hard Bound, Price Rs. 400.00: \$ 36.00.
46. **PRISTINE JAINISM** - (S.N. 143) (I.S.B.N. 81-86715-75-4); by *S.M. Jain*; 1st Edition 2003; Pages 105; Size: Demy; Paper back, Price Rs. 150.00.
47. **UNIVERSAL MESSAGE OF LORD MAHĀVĪRA-** (S.N. 149) (I.S.B.N. 81-86715-83-5); by *Shri Dulichand Jain*; 1st Edition 2006; Pages 122; Size: Demy; Hard Bound, Price Rs. 250.00.

76 : श्रमण, वर्ष 65, अंक 2/अप्रैल-जून 2014

48. **JAINS TODAY IN THE WORLD** - (S.N. 152) (I.S.B.N. 81-86715-87-8); by *Pierre Paul AMIEL*; 1st Edition 2008; Pages 307; Size: Demy; Hard Bound, Price Rs. 500.00.
49. **JAINISM: A THEISTIC PHILOSOPHY-** (S.N. 169) (I.S.B.N. 81-86715-62-2); by *Dr. Krishna A Gosavi*; 1st Edition 2012; pp.340; Size: Demy; Paper back, Price Rs. 500.00.
50. **CONCEPT OF MATTER IN JAINA PHILOSOPHY-** (S.N. 172) (I.S.B.N. 978-93-81571-09-5); by *J. C. Sikdar*; 2nd Edition 2012; Pages 376; Size: Demy; Hard Bound, Prize Rs. 500.00.
51. **STUDIES IN JAINA PHILOSOPHY-** (I.S.B.N 81-86715-12-6); by *Dr. Nathmal Tatia*; 2nd Edition 1985; Pages XXXVI, 328; Size: Demy; Hard cloth Bound, Price Rs. 200.00.
52. **NAVATATTVAPRAKARANA** - English tarns by *Dr. Shriprakash Pandey*; 1st Edition 1998; Pages 40; Paper back, Price Rs. 40.00.

३. योग

१. **जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन** - (ग्रं०मा०सं० २३); लेखक : डॉ० अर्हत् दास बण्डोवा दिगे; प्रथम संस्करण १९८१; पृष्ठ : २८, २५६, १६; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १००.००।
२. **जैन एवं बौद्ध योग** : एक तुलनात्मक अध्ययन - (ग्रं०मा०सं० १२८) (I.S.B.N. 978-93-81571-52-5); लेखिका : डॉ० सुधा जैन; प्रथम संस्करण २००१; पृष्ठ : १२, ३२७; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० ३००.००।

४. आचार एवं नीतिशास्त्र :

१. **जैन धर्म में अहिंसा** - (ग्रं०मा०सं० १७) (I.S.B.N. 978-93-81571-66-5); लेखक : डॉ० बशिष्ठनारायण सिन्हा; द्वितीय संस्करण २००२; पृष्ठ : १६, ३१२; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० ३००।

२. जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ - (ग्रं०मा०सं० ३५); लेखक : डॉ० अरुण प्रताप सिंह; प्रथम संस्करण १९८६; पृष्ठ : १२, २६१; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० १४०.००। (अनुपलब्ध)
३. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन - (ग्रं०मा०सं० ४०); लेखक : डॉ० फूलचन्द जैन 'प्रेमी'; प्रथम संस्करण १९८७; पृष्ठ : २८, १५, ५४३; आकार : डिमाई; सजिल्द/अजिल्द, मूल्य : रु० १६०.०० ।
४. जैनधर्म में श्रमण संघ - (ग्रं०मा०सं० ४२, लघु); लेखक : डॉ० फूलचन्द्र जैन 'प्रेमी'; प्रथम संस्करण १९८७; पृष्ठ : ७, ८२; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० २०।
५. मानव जीवन और उसके मूल्य - (ग्रं०मा०सं० ५५); लेखक : श्री जगदीश सहाय; प्रथम संस्करण १९९०; पृष्ठ : १०, १११; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० ६०.००।
६. जैन नीतिशास्त्र : एक तुलनात्मक विवेचन - (ग्रं०मा०सं० ७९); लेखिका : डॉ० प्रतिभा जैन; प्रथम संस्करण १९९५; पृष्ठ : २३४; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १८०.००।
७. आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन - (ग्रं०मा०सं० ८०); लेखिका - डॉ० साध्वी प्रियदर्शना श्री; प्रथम संस्करण १९९५; पृष्ठ : २९२, १२, ८; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० २००.००।
८. गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण - (ग्रं०मा०सं० ८७); लेखक : डॉ० सागरमल जैन; प्रथम संस्करण १९९६; पृष्ठ : ६, १३८; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० ६०.००।
९. भारतीय जीवन-मूल्य - (ग्रं०मा०सं० ८९); लेखक : डॉ० सुरेन्द्र वर्मा; प्रथम संस्करण १९९६; पृष्ठ : ६, २२०; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १५०.००।
१०. तीर्थंकर महावीर और उनके दशधर्म - (ग्रं०मा०सं० १२१) (I.S.B.N. 978-93-81571-45-2); लेखक : प्रो० भागचन्द्र जैन भास्कर; प्रथम संस्करण १९९९; पृष्ठ : ९, १३६; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० ८०.००।
११. समाधिमरण - (ग्रं०मा०सं० १२४) (I.S.B.N. 978-93-81571-48-7); लेखक : डॉ० रज्जन कुमार; प्रथम संस्करण २००१; पृष्ठ : १०, २४; आकार डिमाई; अजिल्द, मूल्य : २६०.००।

१२. वसुनन्दि श्रावकाचार - (ग्रं०मा०सं० १३१) (I.S.B.N. 978-93-81571-55-X); सम्पादक : डॉ० भागचन्द्र जैन; प्रथम संस्करण १९९९; पृष्ठ : ३४८; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य: रु० २५०.००।
१३. श्रावकधर्म विधि प्रकरण - (ग्रं०मा०सं० १३२) (I.S.B.N. 978-93-81571-58-4); अनुवाद एवं सम्पादन : म० विनयसागर; प्रथम संस्करण २००१; पृष्ठ : ५६, आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १००.००।
१४. जीवन का उत्कर्ष: जैन दर्शन की बारह भावनाएँ - (ग्रं०मा०सं० १५५) (I.S.B.N. 978-93-81571-90-8); लेखक : श्री चित्रभानु जी; प्रथम संस्करण २००८; पृष्ठ : १५, १५६; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य रु०: २००.००।
१५. रात्रिभोजन त्याग आवश्यक क्यों? - (ग्रं०मा०सं० १६१); लेखक : साध्वी स्थितप्रज्ञा श्री; प्रथम संस्करण २००९; पृष्ठ : १५, ४८; आकार : क्राउन; अजिल्द, मूल्य रु०: २०.००।
१६. जैन आचार- (ग्रं०मा०सं० १७४) (I.S.B.N. 978-93-81571-11-8); लेखक : डा. मोहनलाल मेहता; द्वितीय संस्करण २०१२; पृष्ठ : १२, २४३; आकार : क्राउन; अजिल्द, मूल्य रु०: २५०.००।
१७. भावनाशतक - मुनि श्री रत्नचन्द्र जी; प्रथम संस्करण १९३९; पृष्ठ : ४४०; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० २००.००। (अनुपलब्ध)
१८. अहिंसा की प्रासंगिकता - लेखक : प्रो० सागरमल जैन; प्रथम संस्करण २००२; पृष्ठ : ६४, आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० ५०.०० ।
19. THE CONCEPT OF PANCAŚILA IN INDIAN THOUGHT- (S.N. 27) (I.S.B.N. 81-86715-14-2); by *Dr. Kamla Jain*; 1st Edition 1983; Pages 14, 274; Size: Demy; Hard Bound, Price Rs. 150.00.
20. VALUES OF HUMAN LIFE - (S.N. 54) (ISBN 81-86715-10-X) by *Jagadisha Sahaya*; 1st Edition 1990; Pages VII, 108; Size: Demy; Paper back, Price Rs. 60.00.
21. THE PATH OF ARHAT- A Religious Democracy - (S. N. 63) (I.S.B.N. 81-86715-07-X) by *T. U. Mehta*; 1st Edition 1993; Pages XXII, 236; Size: Demy; Paper back, Price Rs. 200.00.

22. **AN INTRODUCTION TO JAINA SĀDHANĀ** - (S.N. 75) (I.S.B.N. 81- 86715-06-1) by *Prof. Sagarmal Jain*; 1st Edition 1995; Pages 89; Size: Demy; Paper back, Price Rs. 40.00.
23. **APARIGRAHA: THE HUMAN SOLUTION** - (S.N. 110) (ISBN-81-86715-32-0); by *Dr. Kamala Jain*; 1st Edition 1998; Pages 104; Size: Demy; Hard Bound, Price Rs. 120.00.
24. **PEACE, RELIGIOUS HARMONY AND SOLUTION OF WORLD PROBLEMS FROM JAINA PERSPECTIVE** - by *Prof. Sagarmal Jain*; 1st Edition 2002; Pages 64; Size : Demy; Paper back, Price Rs. 50.00.

५. इतिहास एवं परम्परा :

१. मगध - (ग्रं०मा०सं० ११, लघु); लेखक : श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद'; प्रथम संस्करण १९५४; पृष्ठ : ६२; आकार : क्राउन; अजिल्द, मूल्य : रु० ३०.००।
२. सुवर्णभूमि में कालकाचार्य - (ग्रं०मा०सं० १३); लेखक : डॉ० उमाकान्त पी० शाह; प्रथम संस्करण १९५६; पृष्ठ : ५०; आकार : डबल क्राउन; अजिल्द, मूल्य: रु० २०.००।
३. तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार - (ग्रं०मा०सं० ४२); लेखक : डॉ० रमेशचन्द्र गुप्त; प्रथम संस्करण १९८८; पृष्ठ : ७, ३५६; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १४०.००।(अनुपलब्ध)
४. अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा - (ग्रं०मा०सं० ४३); लेखक : प्रो० सागरमल जैन; प्रथम संस्करण १९८७; पृष्ठ : ८१; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० ४०.००।
५. हरिभद्रसुरि का समय निर्णय - (ग्रं०मा०सं० ४७, लघु); लेखक : मुनि श्रीजिनविजय जी; द्वितीय संस्करण १९८८; पृष्ठ : ७३; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० २०.००।
६. चार तीर्थंकर - (ग्रं०मा०सं० ४९); लेखक : पं० सुखलाल संघवी; द्वितीय (पुनर्मुद्रित) संस्करण १९८९; पृष्ठ : ६, १४९; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० ६०.००।

७. जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ - (ग्रं०मा०सं० ५७);
लेखिका : डॉ० (श्रीमती) हीराबाई बोरदिया; प्रथम संस्करण १९९१; पृष्ठ : १६, ४८, ३२०; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० ३००.००।
८. जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय - (ग्रं०मा०सं० ५९) (ISBN-81-86715-17-7); लेखक : प्रो० सागरमल जैन; प्रथम संस्करण १९९३; पृष्ठ : ४००; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० २००.००।
९. मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म - (ग्रं०मा०सं० ६१); लेखिका : डॉ० (श्रीमती) राजेश जैन; प्रथम संस्करण १९९२; पृष्ठ : २, ४९०; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० ३५०.००।
१०. महावीर निर्वाण भूमि पावा : एक विमर्श - (ग्रं०मा०सं० ६१); लेखक : भगवती प्रसाद खेतान; प्रथम संस्करण १९९२; पृष्ठ : २३४; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १५०.००।
११. सिद्धसेन दिवाकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व - (ग्रं०मा०सं० ९५) (ISBN-81-86715-22-3); लेखक : डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय; प्रथम संस्करण १९९७; पृष्ठ : १०९; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १००.००।
१२. तपागच्छ का इतिहास (भाग-१, खण्ड-१) - (ग्रं०मा०सं० १३४) (ISBN-81-86715-60-6); लेखक : डॉ० शिवप्रसाद; प्रथम संस्करण २०००; पृष्ठ : १०, ३२८; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० ५००.००।
१३. अचलगच्छ का इतिहास - (ग्रं०मा०सं० १३५) (ISBN-81-86715-61-4); लेखक : डॉ० शिवप्रसाद; प्रथम संस्करण २००१; पृष्ठ : २४, २१२; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० २५०.००।
१४. स्थानकवासी जैन परम्परा का इतिहास - (ग्रं०मा०सं० १४०) (ISBN-81-86715-72-X); लेखक : डॉ० सागरमल जैन एवं डॉ० विजय कुमार; प्रथम संस्करण २००३; पृष्ठ : १४, ६०८; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० ५००.००।
15. POLITICAL HISTORY OF NORTHERN INDIA FROM JAINA SOURCES - (S.N. 2); by Dr. Gulab Chandra

Choudhary; 1st Edition 1954; Pages 30, 450; Size: Crown; Hard Bound, Price Rs. 160.00. (OUT OF PRINT)

16. **AN EARLY HISTORY OF ORISSA** - (S.N. 16); by *Dr. Amar Chand Mittal*; 1st Edition 1962; pp. 467+21; Size: Demy; Hard Bound, Price Rs. 150.00. (OUT OF PRINT)
17. **LORD MAHAVIRA**- (S.N. 38) (I.S.B.N. 81-86715-09-6); by *Dr. Phool Chand*; 1st Edition 1987; Pages 16, 120; Size: Demy; Paper back, Price Rs. 80.00.
18. **JAINISM: THE OLDEST LIVING RELIGION**- (S.N. 44); by *Dr. Jyoti Prasad Jain*; 2nd Edition 1987; Pages 58; Size: Demy; Paper back, Price Rs. 40.00.
19. **JAINISM IN INDIA**- (S.N. 90); Editor: *Ganesh Lalwani*; 1st Edition 1997; Pages 129; Size: Demy; Paper back, Price Rs. 100.00.
20. **I AM MAHĀVĪRA** - (S.N. 138) (I.S.B.N. 81-86715-67-3); by *Dr. N.L. Jain*; 1st Edition 2002; Pages 8, 72; Size: Demy; Paper back, Price Rs.25.00 \$ 1.00, 0.70 Sterling Pound.
21. **JAINA RELIGION: ITS HISTORICAL JOURNEY OF EVOLUTION**- (S.N. 154) (I.S.B.N. 81-86715-89-4); Eng. Trans: *Dr. Kamla Jain*; 1st Edition 2007; Pages 124; Size: Crown; Hard Bound, Price Rs. 100.00.
22. **MAHĀVĪRA** - by *Amar Chand*; 2nd Edition 1997; Pages 18; Size: Demy; Paper back, Price Rs. 10.00.
23. **THE HERITAGE OF THE LAST ARHAT MAHĀVĪRA**- by *Charlotte Krause*; 2nd Edition 1997; Pages 30; Size: Demy; Paper back, Price Rs. 25.00.

६. साहित्य एवं साहित्य का इतिहास:

१. मणिधारी जिनचन्द्रसूरि काव्याञ्जलि - (ग्रं०मा०सं० ३); रचयिता : पं० बेचरदासजी; सम्पादक : डॉ० सागरमल जैन व डॉ० हरिहर सिंह; प्रथम संस्करण १९८१; पृष्ठ : ९, २२, ३०; आकार : क्राउन; अजिल्द, मूल्य : रु० २०.००। (अनुपलब्ध)

२. जैन साहित्य के विविध आयाम (प्रथम खण्ड) - (ग्रं०मा०सं० ४);
सम्पादक : डॉ० सागरमल जैन; प्रथम संस्करण १९८१; पृष्ठ : ८६;
आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० २०.००। (अनुपलब्ध)
३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग १) - (ग्रं०मा०सं० ६);
लेखक : पं० बेचरदास दोशी; द्वितीय संस्करण १९८९; पृष्ठ : १६, ३३०;
आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० २४०.००।
४. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग २) - (ग्रं०मा०सं० ७);
लेखक : डॉ० जगदीशचन्द्र जैन व डॉ० मोहनलाल मेहता; द्वितीय संस्करण
१९८९; पृष्ठ : १८, ३६८; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० २४०.००।
५. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग ३) - (ग्रं०मा०सं० ११);
लेखक : डॉ० मोहनलाल मेहता; द्वितीय संस्करण १९८९; पृष्ठ : ८+५१०;
आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० २४०.०० ।
६. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग ४) - (ग्रं०मा०सं० १२);
लेखक : डॉ० मोहनलाल मेहता व प्रो० हीरालाल र. कापड़िया; द्वितीय
संस्करण १९९१; पृष्ठ : १७, ३८६; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य :
रु० १६०.००।
७. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग ५) - (ग्रं०मा०सं० १४);
लेखक : पं० अम्बालाल प्रे. शाह; द्वितीय संस्करण १९९३; पृष्ठ : ४०,
२९४; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० २४०.००।
८. महामात्य वस्तुपाल का साहित्यमण्डल और संस्कृत में उसकी देन
- (ग्रं०मा०सं० १५); लेखक : डॉ० भोगीलाल ज. सांडेसरा; प्रथम संस्करण
१९५९; पृष्ठ : २८०, ३४; ; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु०
१००.००। (अनुपलब्ध)
९. सम्बोधसप्तिका (संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद एवं पाद-टिप्पणी सहित)
- (ग्रं०मा०सं० १७); अनुवादक : डॉ० रविशंकर मिश्र; प्रथम संस्करण
१९८६; पृष्ठ : ४६; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० २०.००।
१०. अपभ्रंश कथाकाव्य एवं हिन्दी प्रेमाख्यानक - (ग्रं०मा०सं० १८);
लेखक : डॉ० प्रेमचन्द्र जैन; प्रथम संस्करण १९७३; पृष्ठ : ११, ३६६;
आकार डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० १५०.००। (अनुपलब्ध)

११. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग ६) - (ग्रं०मा०सं० २०);
लेखक : डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी; प्रथम संस्करण १९७८; पृष्ठ : ११,
७१०; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० १५०.००।
१२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग ७) - (ग्रं०मा०सं० २४);
लेखक : पं० के० भुजबल शास्त्री, श्री टी.पी. मीनाक्षी सुन्दरम् पिल्लै व
डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर; प्रथम संस्करण १९८१; पृष्ठ : १०, २४८,
१६, ५; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० १६०.००।
१३. वज्जालगं (जयवल्लभकृत) - (ग्रं०मा०सं० ३४); सम्पादक एवं
हिन्दी अनुवादक : पं० विश्वनाथ पाङ्गक; प्रथम संस्करण १९८४; पृष्ठ :
१५, ५२, ५१३; आकार : डिमाई; अजिल्द/ सजिल्द, मूल्य : रु०
१६०.०० ।
१४. जैन मेघदूतम् (भूमिका, मूल, टीका एवं हिन्दी अनुवाद सहित) -
(ग्रं०मा०सं० ५१); लेखक : डॉ० रविशंकर मिश्र; प्रथम संस्करण १९८१;
पृष्ठ : ६, ७४, १२५; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० २००.००।
१५. हिन्दी जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (खण्ड १) (आदिकाल से
१६वीं शताब्दी तक) - (ग्रं०मा०सं० ५३); लेखक : डॉ० शितिकण्ठ
मिश्र; प्रथम संस्करण १९८९; पृष्ठ : १५, ३७१; आकार : डिमाई;
सजिल्द, मूल्य : रु० ३६०.०० ।
१६. हिन्दी जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (खण्ड २) (१७वीं शती)-
(ग्रं०मा०सं० ६६); लेखक : डॉ० शितिकण्ठ मिश्र; प्रथम संस्करण
१९९२; पृष्ठ : ५५०, आकार : डिमाई, सजिल्द, मूल्य: रु० २७०.००।
१७. नेमिदूतम् - (ग्रं०मा०सं० ६८); व्याख्याकार : डॉ० धीरेन्द्र मिश्र; प्रथम
संस्करण १९९४; पृष्ठ : ४६, १३९; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य :
रु० १००.००।
१८. शीलदूतम् - (ग्रं०मा०सं० ६९); अनुवादक : साध्वी प्रमोद कुमारी एवं
पं० विश्वनाथ पाङ्गक; प्रथम संस्करण १९९३; पृष्ठ : ४२; आकार :
डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु०३०.००।
१९. मातृकापद शृंगाररसकलित गाथाकोश - (ग्रं०मा०सं० ७१); अनुवादक
: श्री भैवरलाल नाहटा; प्रथम संस्करण १९९४; पृष्ठ : १८, ७; आकार :
डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १५.००।

२०. श्रृंगारवैराग्यतरंगिणी - (ग्रं०मा०सं० ७३); अनुवादक : मुनि अशोक; प्रथम संस्करण १९९५; पृष्ठ : १५, ३४; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० २०.००।
२१. जैनमहापुराणः कलापरक अध्ययन - (ग्रं०मा०सं० ७४); लेखिका : डॉ० कुमुदगिरि; प्रथम संस्करण १९९५; पृष्ठ : २९३; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० २२५.००।
२२. गाथासप्तशती - (ग्रं०मा०सं० ७७); अनुवादक : पं० विश्वनाथ पाङ्गक; प्रथम संस्करण १९९५; पृष्ठ : १६८; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १५०.००।
२३. निर्भयभीमव्यायोग - (ग्रं०मा०सं० ८२); अनुवादक : डॉ० धीरेन्द्र मिश्र; प्रथम संस्करण १९९६; पृष्ठ : ६, २०, ३३; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० ३०.००।
२४. नलविलासनाटकम् - (ग्रं०मा०सं० ८३); अनुवादक : डॉ० धीरेन्द्र मिश्र; प्रथम संस्करण : १९९८; पृष्ठ : ४१, १९८; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० ६०.००।
२५. हिन्दी जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (खण्ड ३) - (ग्रं०मा०सं० ९१); लेखक : डॉ० शितिकण्ठ मिश्र; प्रथम संस्करण १९९७; पृष्ठ : १६, ६००; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० ३००.००।
२६. पञ्चाशक-प्रकरणम् - (ग्रं०मा०सं० ९२) (I.S.B.N. 81-86715-20-7); अनुवादक : डॉ० दीनानाथ शर्मा; प्रथम संस्करण १९९७; पृष्ठ : १०४, ३६५; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० २५०.००।
२७. अष्टकप्रकरणम् - (ग्रं०मा०सं० १०२) (I.S.B.N. 81-86715-42-8); अनुवादक : डॉ० अशोक कुमार सिंह; प्रथम संस्करण २०००; पृष्ठ : ६, ४५, १३८; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० २००.००।
२८. कौमुदीमित्रानन्दरूपकम् - (ग्रं०मा०सं० १११) (I.S.B.N. 81-86715-34-7); अनुवादक : डॉ० श्यामनन्द मिश्र; पृष्ठ : ६, ४२, १९९; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १२५.००।
२९. हिन्दी जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (खण्ड ४) (१९वीं शताब्दी) - (ग्रं०मा०सं० ११५) (I.S.B.N. 81- 86715-39-8); लेखक : डॉ० शितिकण्ठ मिश्र; प्रथम संस्करण १९९९; पृष्ठ : ९, ३१४; सजिल्द, मूल्य : रु० २५०।

३०. हिन्दी गद्य के विकास में जैन मनीषी पं० सदासुखदास का योगदान - (ग्रं०मा०सं० १३६) (ISBN-81-86715-65-7); लेखिका : डॉ० मुन्नी जैन; प्रथम संस्करण २००१; पृष्ठ : ३२, ३०८, १८; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० ३००.००।
३१. षोडशकप्रकरणम् - (ग्रं०मा०सं० १४६) (ISBN-81-86715-79-7); अनुवादक : डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर; प्रथम संस्करण २००४; पृष्ठ : २३०; आकार : डिमाई; सजिल्द/ अजिल्द, मूल्य : रु० ३००.००।
३२. जैन कुमारसम्भवम् - (ग्रं०मा०सं० १६२) (ISBN-81-86715-55-X); अनुवादक : डा. नीलमरानी श्रीवास्तवा; प्रथम संस्करण २०११; पृष्ठ : २१५; आकार : डिमाई, अजिल्द, मूल्य : रु० ३००.००।
३३. जैन एवं वैदिक परम्परा में त्रैपदी - (ग्रं०मा०सं० १६८) (I.S.B.N. 81-86715-54-1) डॉ० शीला सिंह, प्रथम संस्करण, २०१३, पृष्ठ : ५, २५; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य रु. ४५०.००।
३४. जैन साहित्य के विविध आयाम (द्वितीय खण्ड) - सम्पादक : प्रो० सागरमल जैन; प्रथम संस्करण १९९०; पृष्ठ : २५१; आकार : डिमाई; मूल्य : रु० ६०.००। (अनुपलब्ध)
३५. नम्पयासुन्दरीकहा (हिन्दी अनुवाद सहित) - सम्पादक : डॉ० के०आर० चन्द्र; अनुवादक : डॉ० रमणीक भाई एम० शाह एवं पं० रूपेन्द्र कुमार पगारिया; प्रथम संस्करण १९८९; पृष्ठ : १४, १३२, १४०; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १५०.००।
36. LITERARY EVALUATION OF PAUMACARIYAM - (S.N. 17, small); by *Dr. K. R. Chandra*; 1st Edition 1966; Pages 46; Size: Demy; Paper back, Price Rs. 20.00. (OUT OF PRINT)

७. संस्कृति एवं समाज :

१. बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन - (ग्रं०मा०सं० ८); लेखक : डॉ० कोमल चन्द्र जैन; प्रथम संस्करण १९६७; पृष्ठ : २४, २६८; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य: रु० ३००.००। (अनुपलब्ध)
२. यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन - (ग्रं०मा०सं० १०); लेखक : डॉ० गोकुलचन्द्र जैन; प्रथम संस्करण १९६७; पृष्ठ : २२, ३६, २५८; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० १५०.००।

३. हरिभद्र-साहित्य में समाज एवं संस्कृति - (ग्रं०मा०सं० ७२); लेखिका : डॉ० श्रीमती कमल जैन; प्रथम संस्करण १९९४; पृष्ठ : २२५; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १५०.००।
४. जैन धर्म में नारी की भूमिका - (ग्रं०मा०सं० ७६); लेखक : प्रो० सागरमल जैन; प्रथम संस्करण १९९५; पृष्ठ : ४८; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० २०.००। (अनुपलब्ध)
५. वसुदेवहिण्डी: एक अध्ययन - (ग्रं०मा०सं० ९६) (I.S.B.N. 81-86715-24-X); लेखिका : डॉ० (श्रीमती) कमल जैन; प्रथम संस्करण १९९७; पृष्ठ : १२, १६४; आकार : डिमाई; मूल्य : रु० १८०.००।
६. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का अवदान - (ग्रं०मा०सं० १२३) (I.S.B.N. 81-86715-47-9); लेखक : डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर; प्रथम संस्करण १९९९; पृष्ठ : ६, ९२; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० ८०.००।
७. ज्ञाताधर्म का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन - (ग्रं०मा०सं० १४१) (I.S.B.N. 81-86715-73-8); लेखिका : डॉ० राजकुमारी कोठारी; प्रथम संस्करण २००३; पृष्ठ : १२, १८२; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० २००.००।
८. जैनधर्म और पर्यावरण संरक्षण - (ग्रं०मा०सं० १४४) (I.S.B.N. 81-86715-77-0); सम्पादक : डॉ० शिवप्रसाद; प्रथम संस्करण २००३; पृष्ठ : ४, १०४; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० ५०.००।
९. करकण्डचरित का सांस्कृतिक अध्ययन - (ग्रं०मा०सं० १५७) (I.S.B.N. 81-86715-92-4); लेखक : डॉ० कृष्ण कुमार करण; प्रथम संस्करण २००८; पृष्ठ : १५, २०४; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० २५०.००।
१०. बृहत्कल्पसूत्र: एक सांस्कृतिक अध्ययन- (ग्रं०मा०सं० १६३) (I.S.B.N. 81-86715-96-8); लेखक : डा० महेन्द्र प्रताप सिंह; प्रथम संस्करण २००९; पृष्ठ : १३६; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० २५०.००।
११. महावीरकालीन समाज, संस्कृति और दर्शन की वर्तमान में प्रासंगिकता- (ग्रं०मा०सं० १६५) (I.S.B.N. 81-86715-99-1); लेखक

: डा. नरेन्द्र कुमार पाण्डेय; प्रथम संस्करण २०१२; पृष्ठ : १९६; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० ४००.००।

१२. THE CULTURAL STUDY OF THE NIŚĪTHA CŪRNI -
(S.N. 21) by *Dr. Madhu Sen*; 1st Edition 1975; Pages 12, 409;
Size: Demy; Hard Bound, Price Rs. 120.00. (OUT OF
PRINT)

१३. JAINA CULTURE - by *Mohan Lal Mehta*, 2nd Edition 2002;
Pages 10, 152; Size: Demy; Hard Bound, Price Rs. 80.00.

८. कला एवं स्थापत्यः

१. जैन प्रतिमा विज्ञान - (ग्रं०मा०सं० २५) (I.S.B.N. 81-86715-19-3); लेखक : डॉ० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी; प्रथम संस्करण १९८१; पृष्ठ : १४, ३१६, ३४; आकार : डबल क्राउन; सजिल्द, मूल्य : रु० ३००.००।
२. खजुराहो के जैन मन्दिरों की मूर्तिकला - (ग्रं०मा०सं० ३३); लेखक : डॉ० रत्नेश कुमार वर्मा; प्रथम संस्करण १९८४; पृष्ठ : १४, ८१; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० ६०.००।
३. भारत की जैन गुफाएं - (ग्रं०मा०सं० ९३) (I.S.B.N. 81-86715-22-3); लेखक : डॉ० हरिहर सिंह; प्रथम संस्करण १९९७; पृष्ठ : १००; आकार : डिमाई; सजिल्द/अजिल्द, मूल्य : रु० १५०.००।
४. **JAINA TEMPLES OF WESTERN INDIA-** (S.N. 26)
(I.S.B.N. 8186715-05-3) by *Dr. Harihar Singh*; 1st Edition 1982; Pages 16, 278, 64; Size: Double Demy; Hard Bound, Price Rs. 300.00.
५. **STUDIES IN JAINA ART -** (S.N.114) (I.S.B.N. 81-86715-38-X); by *Dr. U.P. Shah*; 2nd Edition 1998; Pages 14, 166, 38; Size: Double Crown; Hard Bound/ Paper back, Price Rs. 300.00.

९. अर्थशास्त्रः

१. प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन - (ग्रं०मा०सं० ४६); लेखिका : डॉ० (श्रीमती) कमल जैन; प्रथम संस्करण १९८८; पृष्ठ : १२, २१२; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० १२०.००।

१०. भाषा एवं भाषा विज्ञान:

१. प्राकृत भाषा - (ग्रं०मा०सं० ४); व्याख्याता : डॉ० प्रबोध बेचरदास पण्डित; प्रथम संस्करण १९५४; पृष्ठ : ५८; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० ३०.००। (अनुपलब्ध)
२. प्राकृत दीपिका - (ग्रं०मा०सं० २९) (I.S.B.N. 81-86715-82-7); लेखक : प्रो० सुदर्शन लाल जैन; द्वितीय संस्करण २००५; पृष्ठ : २०, २७२; आकार : क्राउन; अजिल्द/सजिल्द, मूल्य : रु० १००.०० (छात्र संस्करण); रु० २००.०० (पुस्तकालय संस्करण)।
३. प्राकृत चिन्तामणि - रचयिता : आचार्यप्रवर घासीलाल जी; प्रथम संस्करण १९८७; पृष्ठ : १६+१०८; आकार : डबल क्राउन; सजिल्द, मूल्य : रु० १००.००।
४. प्राकृत कौमुदी - रचयिता : आचार्यप्रवर घासीलालजी; प्रथम संस्करण १९८८; पृष्ठ : २०, ३५५; आकार : डबल क्राउन; मूल्य : रु० २००.००।
5. JAIN PHILOSOPHY OF LANGUAGE- (S.N.145) (I.S.B.N. 81-86715-77-0); by Prof. Sagarmal Jain; 1st Edition 2002; Pages 160; Size: Demy; Hard Bound, Price Rs. 200.00.

११. कोश एवं सुभाषित :

१. जिनवाणी के मोती - (ग्रं०मा०सं० १२९) (I.S.B.N. 81-86715-53-3); अनुवादक एवं संग्रहकर्ता : दुलीचन्द जैन; द्वितीय संस्करण २०००; पृष्ठ : ३०४; आकार : डिमाई; सजिल्द, मूल्य : रु० ४००.००।
२. प्राकृत-हिन्दी कोश - (ग्रं०मा०सं० १७१) (I.S.B.N. 81-86715-49-5); सम्पादक : डॉ० के०आर० चन्द्र; द्वितीय संस्करण २०१२; पृष्ठ : १५, ८९०; आकार : रायल आठपेजी; सजिल्द, मूल्य : रु० १२००.००।
३. नानार्थोदयसागर कोष - रचयिता : आचार्यप्रवर घासीलालजी; प्रथम संस्करण १९८८; पृष्ठ : १५, ३९२; आकार : डबल क्राउन; सजिल्द, मूल्य : रु० २००.००।
4. DOCTORAL DISSERTATIONS IN JAINA AND BUDDHIST STUDIES- (S.N. 30); Editors: Dr. Sagarmal Jain & Dr. Arun Pratap Singh, 1st Edition 1983; Pages 12, 100; Size: Demy, Hard Bound, Price Rs. 40.00.

5. **PEARLS OF JAIN WISDOM-** (S.N. 86) (I.S.B.N. 81-86715-18-5); Compiled by *Shri Dulichand Jain*; Edited by *Dr. S. M. Jain & Dr. S. P Pandey*; 2nd Edition 2005; Pages XXXII, 328; Size: Demy; Hard Bound, Price Rs. 250.00.
6. **ADVANCED GLOSSARY OF JAINA TERMS-** (S.N. 151) (I.S.B.N. 81-86715-86-X); by *Dr. N. I. Jain*; 1st Edition 2006; Pages VII, 2, 246; Size: Demy; Paper back, Price Rs. 300.00.
7. **ENCYCLOPAEDIA OF JAIN STUDIES, VOL. I (Art & Architecture)** - (S.N. 155) (I.S.B.N. 81-86715-89-5); Editors: *Prof. MNP Tiwari, Prof. Kamala Giri, Prof. Harihar Singh*; 1st Edition 2010; Pages 20, 497; Size: Double Demy; Hard Bound, Price Rs. 4000.00.

१२. विज्ञान:

१. **जैन धर्म की वैज्ञानिक आधारशिला-** (ग्रं०मा०सं० १३९) (ISBN-81-86715-71-1); लेखक : डा० के. वी. मारडिया; प्रथम संस्करण २००४; पृष्ठ : २४, १६६; साइज : डिमाई; सजिल्द, मूल्य: रु० २५०.००।
2. **SCIENTIFIC CONTENTS IN PRAKRIT CANONS** - (S.No. 84) (I.S.B.N. 81-86715-11-8); by *Dr. Nandlal Jain*; 1st Edition 1996; Pages 515; Size: Demy; Paper back, Price Rs. 400.00.
3. **BIOLOGY IN JAINA TREATISE ON REALS** - (S.N.120) (I.S.B.N. 81-86715-44-4); by *Dr. N.L. Jain*; 1st Edition 1999; Pages 204; Size: Demy; Hard Bound, Price Rs. 150.00.

१३. मनोविज्ञान:

१. **JAINA PSYCHOLOGY-** by *Mohan Lal Mehta*; 2nd Edition 2002; Pages 16, 220; Size: Demy; Hard Bound, Price Rs. 120.00.

१४. तीर्थ:

१. **भारत के प्राचीन जैन तीर्थ** - (ग्रं०मा०सं० ८, लघु); लेखक : डॉ० जगदीशचन्द्र जैन; प्रथम संस्करण १९५२; पृष्ठ : ६८, २०; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य रु० ६०.००। (अनुपलब्ध)

१० : श्रमण, वर्ष ६५, अंक २/अप्रैल-जून २०१४

२. जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन - (ग्रं०मा०सं० ५६); लेखक : डॉ० शिवप्रसाद; प्रथम संस्करण १९९१; पृष्ठ : २८, ३३६; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० ३००.००।

१५. तन्त्रः

१. जैन धर्म और तान्त्रिक साधना - (ग्रं०मा०सं० ९४) (I.S.B.N. 81-86715-21-5); लेखक : डॉ० सागरमल जैन; प्रथम संस्करण १९९७; पृष्ठ : ५००; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० २५०.०० एवं सजिल्द रु० ३५०.००।

१६. काव्यशास्त्रः

१. जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान - (ग्रं०मा०सं० ३२); लेखक : डॉ० कमलेशकुमार जैन; प्रथम संस्करण १९८४; पृष्ठ : १८, ३५६; आकार : डिमाई; अजिल्द/ सजिल्द, मूल्य : रु० १००.०० ।
२. अलंकारदृष्टि - (ग्रं०मा०सं० ९८) (I.S.B.N. 81-86715-56-8); अनुवादक : भैरवलाल नाहटा; प्रथम संस्करण २००१; पृष्ठ : २४, ५६; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० १२५.००।

१७. शिक्षाः

१. जैन एवं बौद्ध शिक्षा-दर्शन : एक तुलनात्मक अध्ययन - (ग्रं०मा०सं० १४२) (I.S.B.N. 81-86715-74-6); लेखक : डॉ० विजय कुमार; प्रथम संस्करण २००३; पृष्ठ : १२, २३६; आकार : डिमाई; अजिल्द, मूल्य : रु० २००.००।

१८. अभिनन्दन एवं संस्मरण ग्रन्थः

१. ASPECTS OF JAINOLOGY: Vol. 1 (*Lala Harajas Rai Commemoration Volume*) - Editor: Dr. Sagarmal Jain; 1st Edition 1987; Pages 150; Size: Crown; Hard cloth Bound, Price Rs. 200.00.
२. ASPECTS OF JAINOLOGY: Vol. II (*Pt. Becharadas Doshi Commemoration Volume*) - Editors: Prof M.A. Dhaky, Prof Sagarmal Jain; 1st Edition 1987; Pages 228, 140, 120; Size: Double Crown; Hard Cloth Bound, Price Rs. 250.00. (OUT OF PRINT)

३. **ASPECTS OF JAINOLOGY: Vol. III** (*Pt. Dalsukh Bhai Malvania Felicitation Volume*) - (S.N. 103) (I.S.B.N. 81-86715-03-7); Editors: *Prof. Madhusudana Dhaky and Prof. Sagarmal Jain*; 1st Edition 1991; Pages 32, 240, 206; Size: Crown 4to; Hard Cloth Bound, Price Rs. 250.00.
४. **ASPECTS OF JAINOLOGY: Vol. IV** (*Golden Jubilee Volume*) - (S.N.104); Editors: *Prof Sagarmal Jain and Dr. A.K. Singh*; 1st Edition 1994; Pages 55, 252, 77; Size: Crown; Hard Cloth Bound, Price Rs. 350.00.
५. **ASPECTS OF JAINOLOGY: Vol. V** (*Sri Svetambara Sthanakavasi Jaina Sabha, Calcutta Diamond Jubilee Seminar Volume*) - (S.N.105) (I.S.B.N. 81-86715-28-2); Editors: *Prof Sagarmal Jain & Dr. Ashok Kumar Singh*; 1st Edition 1994; Pages 166; Size: Crown; Paper back, Price Rs. 200.00.
६. **ASPECTS OF JAINOLOGY VOL. VI** (*Dr. Sagarmal Jain Felicitation Vol.*) - (S.N.106) (I.S.B.N. 81-86715-28-2); Editors: *Dr. Sudarshanlal Jain, Dr. Dharmchand Jain, etc.*; 1st Edition 1998; Pages 996; Size: Double Demy; Hard cloth bound, Price Rs. 800.00.
७. **ASPECTS OF JAINOLOGY. Vol. VII** (*Shri B.N. Jain Felicitation Vol.*) - (S.N.107) (I.S.B.N. 81-86715-29-0); Editors: *Dr. Sagarmal Jain, Dr. Shriprakash Pandey, Dr. Vijay Kumar Jain, Dr. Sudha Jain*; 1st Edition 1998; Pages 370; Size: Double Demy; Hard Cloth Bound, Price Rs. 300.00.
८. **DR. CHARLLOTE KRAUSE: HER LIFE A LITERATURE Vol. I** - (S.N.119) (I.S.B.N. 81-86715-43-6); Editors: *Prof. Sagarmal Jain, Dr. Shriparakash Pandey*; 1st Edition 1999; Pages 664; Size: Demy; Hard Bound, Price Rs.500. \$ 40-00.
९. **NANDANAVANA-** (S.N.147) (ISBN 81-86715-80-0); by *Dr. N. L. Jain*; 1st Edition 2005; Pages 15, 567; Size: Demy; Paper back, Price Rs. 500.00.

OUR IMPORTANT PUBLICATIONS

- | | | |
|-----|---|----------------------|
| 1. | Prakrit - Hindi Kośa
Edited by Dr. K.R. Chandra | ₹ 1200.00 |
| 2. | Encyclopaedia of Jaina Studies
Vol. I (Art & Architecture) | ₹ 4000.00, \$ 100.00 |
| 3. | Jaina Kumāra Sambhavam
Dr. Neelam Rani Shrivastava | ₹ 300.00 |
| 4. | Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa, Vol. I - Vol. VII, | ₹ 1430.00 |
| 5. | Hindi Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa, Vol. I - Vol. III
Dr. Shitikanth Mishra | ₹ 1270.00 |
| 6. | Jaina Pratimā Vijñāna
Prof. M.N.P. Tiwari | ₹ 300.00 |
| 7. | Jaina Dharma Darśana
Dr. Mohanlal Mehta | ₹ 200.00 |
| 8. | Sthānakavāsī Jaina Paramparā Kā Itihāsa
Dr. S. M. Jain & Dr. Vijaya Kumar | ₹ 500.00 |
| 9. | Studies in Jaina Philosophy
Dr. Nathmal Tatia | ₹ 200.00 |
| 10. | Theaory of Reality in Jaina Philosophy
Dr. J. C. Sikdar | ₹ 300.00 |
| 11. | Doctrine of Karma in Jaina Philosophy
H.V. Glasenapp | ₹ 150.00 |
| 12. | Jainism: The Oldest Living Religion
Dr. Jyoti Prasad Jain | ₹ 40.00 |
| 13. | Scientific Contents in Prakrit Canons
Dr. N. L. Jain | ₹ 400.00 |
| 14. | Pearls of Jaina Wisdom
Editors: Dr. S. M. Jain & Dr. S. P. Pandey | ₹ 120.00 |
| 15. | Studies in Jaina Art
Dr. U.P. Shah | ₹ 300.00 |
| 16. | Dr. C. Krause: Her Life and Literature Vol. I
Editor : Dr. S. P. Pandey | ₹ 500. \$ 40-00 |
| 17. | Jainism in a Global Perspective
Editors: Dr. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey | ₹ 400.00. \$ 19.00 |
| 18. | Multi-dimensional Application of Anekāntavāda
Editors: Dr. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey | ₹ 500.00, \$ 20.00 |
| 19. | Advanced Glossary of Jaina Terms
Dr. N. L. Jain | ₹ 300.00 |
| 20. | Uttarādhyayana-Sūtra: Eka Pariśilana (Gujrati)
Dr. S. L. Jain & Trans. A. Santilal Joshi | ₹ 300.00 |
| 21. | Jains Today in the World
Pierre Paul Amiel | ₹ 500.00 |
| 22. | Kaṣāyapāhuḍa (Chapters on Passion)
Dr. N. L. Jain | ₹ 300.00 |
| 23. | Jaina Karmagrantha Part -I-V (Pt. Sukhlal Sanghvi) | ₹ 400.00 |